संपादनः
राजेश खिंदरी
रश्मि पालीवाल
सी. एन. सुब्रह्मण्यम
हृदयकांत दीवान

सह संपादकः
माधव केलकर
दीपक वर्मा

चित्रांकनः
किशोर उमरेकर
वी. एम. भोंडे

सहयोगः
जया विवेक
बृजेश सिंह
रामभरोस यादव
महेश बसेड़िया
अजय शर्मा

परामर्श (शिक्षक):
स्वाति चौबे
मनोज शुक्ला
कृष्णा तलरेजा
अरविंद मेहरा
एस. सी. राजवैद्य
प्रवीण वर्मा
श्यामल दास गुप्त

संदर्भ

शिक्षा की द्वैमासिक पत्रिका

अंक-20, नवम्बर-दिसम्बर, 1997

संपादन एवं वितरणः

एकलव्य, कोठी बाज़ार
होशंगाबाद - 461 001
फोनः 07574 - 53518

वार्षिक सदस्यता (6 अंक) : 35 अंक
(ड्राफ्ट एकलव्य के नाम से बनवाएं)

मुखपृष्ठ एवं पिछला आवरणः एक फूल के वर्तिकाग्र का कई गुना बड़ा चित्र। इस चित्र को स्केनिंग इलेक्ट्रॉन माइक्रोस्कोप से लिया गया है।

वर्तिकाग्र पर रोंएनुमा रचनाएं होती हैं जो परागकण को वर्तिकाग्र पर रोकने का काम करती हैं ताकि हवा या अन्य कारक उसे उड़ा कर न ले जाएं। मूल आकार के कई गुना बड़ा होने के कारण ये रोंएनुमा रचनाएं चित्र में ट्यूबनुमा या छोटी उंगलीनुमा दिख रही हैं। इनके ऊपर और बीच में यहां वहां अंडाकार परागकण पड़े हुए हैं।

इस अंक में विभिन्न किताबों से लिए गए चित्रः *बायोलॉजिकल साइंसेज़* लेखकः विलियम टी. कीटन, जेम्स एल. गूल्ड, प्रकाशकः डब्लू. डब्लू. नॉर्टन एंड कंपनी; *नो योर बॉडी* प्रकाशकः मार्शल कैवेंडिश बुक्स, लंदन; *पॉपुलर साइंस* प्रकाशकः ग्रॉलियर इंटरनेशनल इन्क.; *द सेल* प्रकाशकः गारलैन्ड पब्लिशिंग, न्यूयॉर्क; *मैग्निफिकेशन्स* लेखकः डेविड स्कार्फ, प्रकाशकः स्कॉकिन बुक्स, न्यूयार्क; *बिल औडीज़ गोन बर्डिंग* लेखकः बिल औडीज़, प्रकाशकः मैथ्युएन लंदन लिमिटेड।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय की एक परियोजना के तहत प्रकाशित
संदर्भ में छपे लेखों में व्यक्त मतों से मानव संसाधन विकास मंत्रालय का सहमत होना आवश्यक नहीं है

अतिचालकता 11

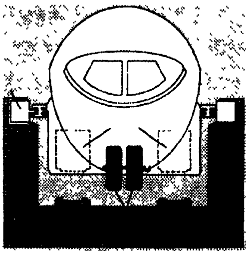

पदार्थों के अतिचालक गुण की खोज ने कई नई संभावनाएं खोल दी हैं – जैसे कि तीव्र गति से चलने वाली ट्रेन, अतिशक्तिशाली चुंबकों का विकास आदि। इसी गुण के आधार पर अमेरिका में एक परिपथ बनाया गया है जिसमें करंट बिना किसी नुकसान के लगातार बहता रहता है। अतिचालकता यानी कि जब पदार्थ का प्रतिरोधी गुण बिल्कुल समाप्त हो जाता है। अतिचालकता और इससे जुड़ी संभावनाओं का विश्लेषण।

परागकण का सफर. 25

परिपक्व परागकोष के फटने से असंख्य परागकण हवा, पानी, कीट, पशुपक्षियों द्वारा फूल के वर्तिकाग्र पर पहुंचते हैं। एक नए पौधे के निर्माण के लिए यह पहला ज़रूरी कदम होता है। लेकिन कोई एक परागकण ही अंडाशय तक पहुंचने में सफल होता है। परागकण के वर्तिकाग्र से अंडाशय तक के सफर के बारे में विस्तृत जानकारी।

नील्स बोहर, एक मानवतावादी चेहरा. 51

नाभिकीय ऊर्जा के रहस्यों को जानने के साथ-साथ बोहर इस खोज के सामाजिक व राजनीतिक परिणामों को लेकर परेशान थे। यकीनी तौर पर बोहर में वह दूरदृष्टि थी जिसका तत्कालीन राजनितिज्ञों में अभाव था। प्रसिद्ध वैज्ञानिक नील्स बोहर के जीवन के कुछ पहलू।

इस अंक में

आपने लिखा. . . .	2	फूलों से मज़ेदार प्रयोग. . . .	60
माइक्रो बायोलॉजी में बर्ड. . . .	5	गुरुनानक का दोहा, औरंगज़ेब. . . .	63
अतिचालकता. . . .	11	सवालीराम. . . .	67
परागकण का सफर. . . .	25	किताबें करती हैं बातें. . . .	74
नौसादर, पानी और. . . .	35	तरीकों की खोज, इतिहास. . . .	79
वह जादुई स्कूल. . . .	41	ज़रा सिर तो खुजलाइए. . . .	90
नील्स बोहर, एक मानवतावादी. .	51	खेती करती चींटियां. . . .	92

उन्नीसवां अंक मिला। इस अंक का मुखपृष्ठ बहुत ही सुंदर और आकर्षक लगा। मेरे कुछ दोस्त तो मानने को तैयार नहीं हैं कि यह फोटो वास्तविक है। एच. जी. वेल्स की कहानी 'वह आदमी जो चमत्कार कर सकता था' बहुत अच्छी लगी। वेल्स की कुछ कथाओं पर फिल्म भी बन चुकी है। यदि हो सके तो 'द टाइम मशीन' का अनुवाद प्रकाशित करें। यह भी वेल्स की ही लिखी हुई है।

अजय शर्मा के लेख में 'वेन. डी. ग्राफ' मज़ेदार लगा। 'पलकों का नज़ारा और चूहे' भी पढ़ा। सवालीराम में बादलों पर गुरुत्व का प्रभाव दो बार पढ़ने पर ही समझ सका।

पवन गुप्ता,
इदौर, मध्य प्रदेश।

सितम्बर-अक्टूबर अंक काफी रोचक लगा। मैं आपकी दोनों पत्रिकाओं – 'संदर्भ' और 'चकमक' से अपने छात्रों को परिचित कराता रहता हूं। वे प्रभावित होते हैं। परन्तु. . . मुख्य बात यह है कि यह कस्बा पत्र-पत्रिकाओं पर खर्च बेमानी मानता है। शिक्षा की ओर ध्यान कम है। वह चाहता क्या है पता नहीं।

अभय कृष्ण गुप्ता,
श्री नेहरू बाल वाटिका
नोहर, राजस्थान।

उपहार स्वरूप भेजा गया 19वां अंक मुझे मिल गया है। पिछले दिनों चकमक के एक अंक में मेरा पत्र छपा और अब संदर्भ के इस अंक में। धन्यवाद।

ये अंक तो पूरा विज्ञान को समर्पित है। शिक्षा की कमी के कारण तथ्य की गहराई में नहीं जा पाता परंतु बातें समझ में आती हैं। 'आपने लिखा' पढ़कर महसूस होता है कि पत्रिका दूरदराज़ तक जाती है।

पेड़-पौधों. . ., सवालीराम, पलकों का. . ., बिजली के . . ., पर्यावरण. . ., मांसपेशियां आदि सभी लेख नए व शोधपूर्ण लगे। पलकों का नज़ारा. . . लेख में जो सच्चाई पेश की गई है उसे सभी को मान लेना चाहिए। कहानी 'चमत्कार' भी अपने आप में एक अजूबा लगी।

पावरझंडा के स्कूलों के बारे में जानकर दुख हुआ। मुखपृष्ठ पर बादलों को लाल-काला-पीला दर्शाकर आपने मन मोह लिया।

राजकुमार गुप्त।
नाशिक रोड, बंदीशाला
नाशिक, महाराष्ट्र।

प्रोफेसर यशपाल ने 18वें अंक में छपे लेख 'स्कूल के सवाल ज़िंदगी के सवालों से अलग क्यों हैं?' में काफी अच्छा विवेचन किया है।

प्रोफेसर यशपाल के अनुसार कई शिक्षक महत्वपूर्ण ज़रूरी सवालों को टाल जाते हैं। परंतु मैं सौभाग्यशाली हूं कि मुझे ऐसे शिक्षक मिले हैं जो सामाजिक सवालों के सटीक जवाब देते हैं।

विवेक प्रकाश के नींद से संबंधित लेख में बहुत ही रोचक जानकारियां मिलीं। इसी लेख में दी गई जानकारी – बोरिस परशे का लॉलीपॉप – रुचिकर लगा।

नरेश रणसूरमा, दसवीं
सरस्वती विद्या मंदिर,
हरदा, मध्य प्रदेश।

'संदर्भ' से मेरा परिचय एक मित्र के घर पर आई उपहार पत्रिका के रूप में हुआ। मैं उसे पूर्ण पढ़ने का लोभ संवरण न कर सका। मैंने तुरंत उसका वार्षिक चंदा भेजा और शेष अंक सजिल्द मंगवा लिए।

संदर्भ में दिए गए विभिन्न लेख काफी विस्तरित रूप से और आसान भाषा में समझाए गए हैं। लेख सारगर्भित एवं मनन योग्य हैं।

संदर्भ में एक कमी नज़र आती है – उसकी लेटलतीफी। मालूम पड़ा कि इस दिशा में आप प्रयास कर रहे हैं। परंतु अंक हाथ में आते ही सारी बातें भूलकर अंक समाप्त करने की इच्छा होती है।

विलास (विकास)
देवास, मध्यप्रदेश।

तारीखों में गलतियां

जुलाई-अगस्त की संदर्भ पढ़ी। देखकर शिकायत करने की इच्छा हुई। मेढक के अण्डे से मेंढक बनने के जो चित्र छपे है उसमें त्रुटियां हैं।

मेरा विषय विज्ञान नहीं है किन्तु मैं यह प्रयोग हर वर्ष करती हूं। लेख में चित्रों के साथ जो तारीख दी गई हैं वे गलत हैं। इतनी जल्दी न तो गलफड़े गायब होते हैं, न ही पीछे के पैर आने के दो दिन बाद आगे के पैर आते हैं और न ही एक दिन बाद पूंछ गायब हो जाती है। इसमें पूरे 45 दिन लगते हैं। अण्डे से पूर्ण मेंढक बनने में यदि बच्चों ने चित्र बनाए हैं तो कोई बात नहीं,पर तारीख ठीक करवा देना था।

मालती महोदय, शिक्षिका
धार, मध्य प्रदेश।

संदर्भ सजिल्द

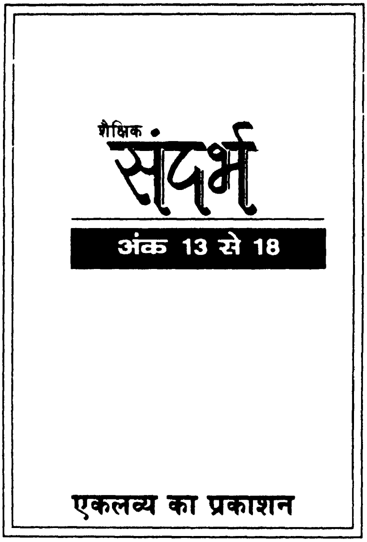

संदर्भ सजिल्द: संदर्भ के अंक '13 से 18' का सजिल्द संस्करण। इन अंकों में प्रकाशित लेखों का विषयवार इंडेक्स संस्करण के साथ है। अंक सीमित मात्रा में उपलब्ध।

मूल्य: 60 रुपए (डाकखर्च सहित)।

अंक '1 से 6' और '7 से 12' के सजिल्द संस्करण भी उपलब्ध। इनकी कीमत भी 60 रुपए है।

राशि डिमांड ड्राफ्ट या मनीऑर्डर से भेजें। ड्राफ्ट एकलव्य के नाम से बनवाएं। अधिक जानकारी के लिए संपर्क करें।

एकलव्य
कोठी बाज़ार
होशंगाबाद - 461 001

एकलव्य
ई-1/25, अरेरा कॉलोनी
भोपाल - 462 016

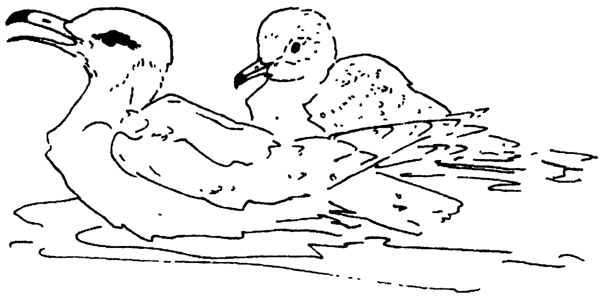

माइक्रो-बायोलॉजी, मानो कि बर्ड वॉचिंग

मिलिंद वाटवे

आखिर क्या फर्क था कि बर्ड वॉचिंग सरस, सजीव थी जबकि माइक्रो-बायोलॉजी रूखा और जड़ विषय

क्ष्म जैविकी (Micro Biology) पढ़ना शुरू करने के बहुत पहले ही मैं परिंदों में रुचि लेने लगा था। मुझे मालूम नहीं कि मैंने सूक्ष्म जैविकी विषय क्यों चुना। शायद ऐसे ही क्योंकि उन दिनों उन विद्यार्थियों के सामने बहुत कम विकल्प मौजूद थे जो चिकित्सा की पढ़ाई में नहीं जाते थे। इसी तरह बर्ड वॉचिंग को लेकर भी मैं बहुत गंभीर नहीं था। हुआ यूं कि हाई स्कूल के दिनों में मैं शौकिया तौर पर एक क्लब से जुड़ गया। उसके प्रशिक्षक एक दो बार हमें 'परिंदा दर्शन (बर्ड वॉचिंग)' के लिए ले गए। किसी तरह यह शौक परवान चढ़ा और मैं धीरे-धीरे काफी रुचि लेने लगा। आज मैं विश्वास के साथ कह सकता हूं कि यदि मैं एक अच्छा सूक्ष्म जीव-विज्ञानी हूं तो इसका श्रेय बर्ड वॉचिंग को जाता है।

एक जड़ तो एक मज़ेदार

जब मैंने माइक्रो-बायोलॉजी पढ़ना शुरू किया तो पाया कि यह बिल्कुल

नीरस और जड़ विषय है। मैं हमेशा इसकी तुलना बर्ड वॉचिंग से करता जो सरस, ज्ञान से भरा हुआ और हमेशा चुनौती प्रस्तुत करने वाला था। मैं हमेशा सोचता कि आखिर इस अंतर का कारण क्या है? शायद चिड़ियों की खूबसूरती और सजीलापन एक वजह होगी या फिर यह कि क्षेत्रीय भाषाओं और अंग्रेज़ी में परिंदों के सीधे-साधे नाम हैं, और हमें लेटिन के कठिन नामों से जूझना नहीं पड़ता, या फिर बंद कमरों से बाहर निकलने की अनुभूति, या फिर कुछ और?

लेकिन आज लगता है कि मैंने इस सबसे महत्वपूर्ण कारण को पहचान लिया है। हमारे माइक्रो-बायोलॉजी के अध्यापक हमें दिखाकर बताते - 'यह इ. कोलाई है। यह मैककौन्की के अगार (Agar) में गुलाबी कॉलोनियां बनाता है; क्योंकि यह लैक्टोज़ में खमीर उठा देता है और अम्ल बनाता है। वहीं सालमोनेला (Salmonella) की कॉलोनियां रंगहीन होती हैं; क्योंकि यह लैक्टोज़ में खमीर नहीं उठाता।' दूसरी तरफ बर्ड वॉचिंग के प्रशिक्षक एक अलग ही रास्ता अख्तियार करते। 'अगर तुम्हें एक ऐसी चिड़िया दिखे जिसे तुम नहीं पहचानते, तो क्या करोगे? इसके आकार की तुलना दूसरे जाने पहचाने परिंदों के आकार से करो। उसके शरीर के हिस्सों को गौर से देखो – चोंच, पूंछ, पंखों का आकार, उसके उड़ने का तरीका। ज़मीन पर यह सीधे-सीधे चलती है या फिर कूदते-फुदकते हुए? उसका चित्र बनाओ और उस हर चीज़ का वर्णन लिखो जिसे तुमने देखा है। इतना सब कुछ करने के बाद लाइब्रेरी में जाओ और *सालिम अली* की या फिर पक्षियों से संबंधित किसी और किताब को देखो और इस अनोखी चिड़िया को ढूंढो।' मेरे विचार में फर्क यहीं पर है। माइक्रो-बायोलॉजी, प्राणीविज्ञान, वनस्पति शास्त्र की हमारी पढ़ाई शायद ही हमें कभी 'खुद खोजने' की ओर प्रेरित

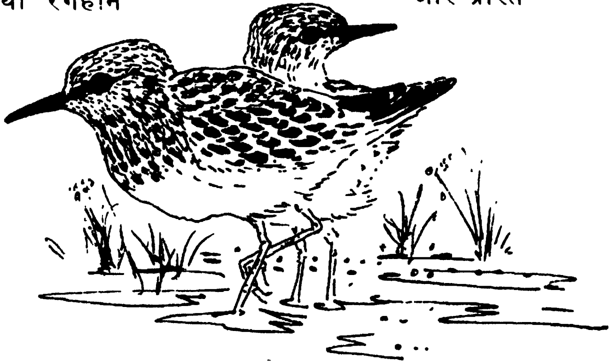

करती है – चाहे वो सूक्ष्म जीवों की अलग-अलग तरह की कॉलोनियां हों, कोई अनोखा कीट हो या फिर कोई विचित्र मशरूम (कुकुरमुत्ता)।

इतने विविध कि. . .

सौभाग्यवश एम. एससी. की हमारी पढ़ाई में कुछ खोजने के मौके भरपूर थे। केन्द्र में स्नातकोत्तर के कोर्स का पहला बैच हमारा ही था। सभी कुछ अनगढ़ और अनिश्चित था। मैं समझता हूं कि यही सबसे उत्तम मौका था हमारे लिए। चूंकि शुरुआत हमें ही करनी थी सो हमने खोजबीन करना शुरू कर दिया। शीघ्र ही हमें आभास हुआ कि सूक्ष्म जीवों का संसार पक्षियों के संसार से कम मनोहारी (आकर्षक) नहीं है। बल्कि यह तो और अधिक वैविध्यता लिए हुए है, सुंदर और सजीव है। वे सिर्फ बेलनाकार और गोलाकार ही नहीं होते बल्कि गुलाब की पंखुड़ियों की तरह भी जमे हुए मिलते हैं, तो कभी-कभार घोंघे के खोल की तरह सर्पिलाकार जमावट लिए हुए, मोतियों की तरह। यही नहीं और भी बहुत से रूप होते हैं सूक्ष्मजीवियों के – चींटियों की सेना की तरह शिकार की तलाश में घूमते हुए बैक्टीरिया के समूह, कहीं पतले लंबे कभी न खत्म होने वाले तंतु, तो कभी तारों का आकार लिए, या सुईनुमा भी मिल जाएंगे; और रिबन जैसे पट्टीनुमा भी। यही नहीं दुनिया के सबसे रंगीन फूल भी शायद यहीं

हमारी आंतों में मिलने वाला ई कोलाई बैक्टीरिया। यह होता है।

मिलेंगे – माइक्सो बैक्टीरिया की फ्रुटिंग बॉडीज़ के रूप में। और इन सब को काफी आसानी से खोजा जा सकता था। बस शर्त सिर्फ यह थी कि हमेशा अपनी जिज्ञासा बनाए रखो, सदैव नई खोज की तलाश में रहो और किताबों में दी गई विधियों से पार जाकर प्रयास करो।

कई बार यह तलाश निराशा को भी साथ लेकर आती थी। खासकर जब आपका अवलोकन किताबों में दी गई किसी भी चीज़ से मेल नहीं खा रहा हो। कई सालों बाद मुझे पता चला कि सूक्ष्म जीवों का लगभग 90 फीसदी संसार तो अभी भी अनजाना है। एक ग्राम मिट्टी में करीब 4000 तरह के डीएनए (यानी इतने तरह के सूक्ष्म जीवी) मिल जाएंगे। यदि इन्हें पनपाएं तो करीब 50 से 60 तरह की कॉलोनियां तो प्राप्त हो ही जाएंगी। इनमें से कई तो अभी भी विज्ञान की पहुंच से बाहर हैं। अपनी कल्पना को दौड़ाओ, इनको पल्लवित करने की कोई नई विधि खोजो तो यह लगभग तय है कि तुम किसी गैर-पहचानी प्रजाति (Species) को पा लोगे।

. . . बस ये पढ़ना है

दुर्भाग्यवश सूक्ष्म जीवविज्ञान का हमारा प्रशिक्षण शायद ही कभी 'ई. कोलाई' के दायरे से बाहर निकलता हो। लेकिन माइक्रो-बायोलॉजी में ऐसा होना कोई अनोखी बात नहीं है। हालांकि विज्ञान का एक मूल तत्व है

माइक्सोबैक्टीरिया की फ्रुटिंग बॉडीज़।

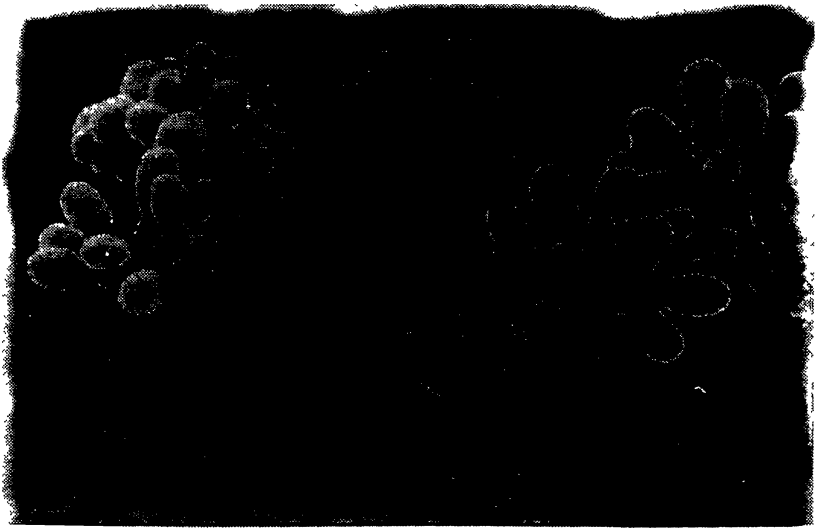

खोज, तलाश – पर यह 'अन्वेषण-तत्व' विज्ञान के हमारे प्रशिक्षण से एकदम गायब है। इसी समस्या का एक पहलू है हमारा विश्वविद्यालयीन ढांचा; जिसमें ज़ोर इस बात पर है कि विश्वविद्यालय से संबद्ध सभी कॉलेजों में बिल्कुल एकरूप पढ़ाई होनी चाहिए। इसीलिए ज़रूरी होता है कि पढ़ाई जाने वाली हरेक चीज़ का ज़िक्र सिलेबस में हो। इसे परिणाम कहें, या यूं कहें कि विद्यार्थी और अध्यापक इस स्थिति की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि सिलेबस के अलावा कोई भी चीज़ नहीं पढ़ाई जानी है। जड़ सिलेबस, एकदम परिभाषित. . . और यह होता है अन्वेषण का अंत। और पाठ्यक्रम में आपको पढ़नी होती हैं फकत फलानी और फलानी प्रजातियां, फलाने फलाने प्रयोग – और इनके सिवाए कुछ और नहीं। यानी इसका मतलब यह निकलता है कि – यदि खोजबीन विज्ञान का एक इतना आवश्यक तत्व है, और मानकीकृत पाठ्यक्रम इस खोज-तत्व के लिए घातक होता है, तो शायद पाठ्यक्रम का होना ही अपने आप में विज्ञान की मूल भावना के खिलाफ है

क्या हम बिना पाठ्यक्रम के विज्ञान पढ़ा सकते हैं या कम-से-कम बिना एक जड़ पाठ्यक्रम के। मैंने एक बार ऐसी कोशिश की थी, जब मुझसे कॉलेज के पहले वर्ष के विद्यार्थियों को प्रेक्टिकल कराने को कहा गया। पहले ही दिन

हमारे मुंह में मिलने वाला एक बैक्टीरिया – *स्ट्रेप्टोकॉकस सेलिवेरिया;* यह गोलाकार होता है और चेन नुमा झुंड बनाता है

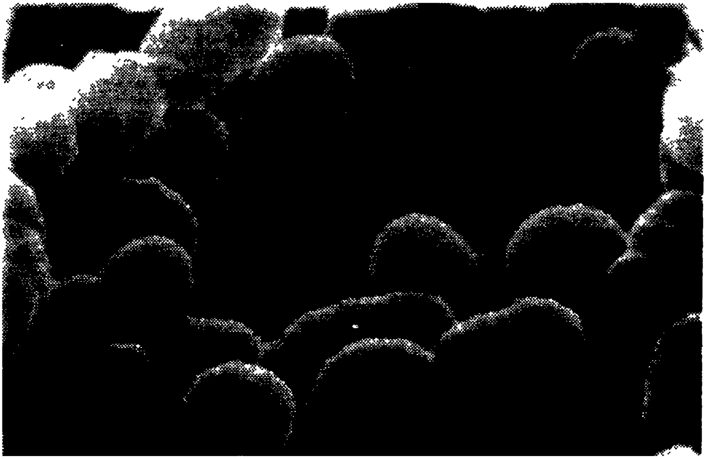

मैंने विद्यार्थियों के प्रत्येक समूह को एक-एक सूक्ष्मदर्शी और एक-एक पेंचकश दिया; और उनसे कहा कि इनसे खेलो – सूक्ष्मदर्शी के हर पुर्ज़े को अलग कर दो और उन्हें फिर से वापस जोड़ने की कोशिश करो। अगले दिन मैंने उनसे कहा कि तुम जो भी सूक्ष्मदर्शी से देखना चाहते हो देखो - चाहे वो कितनी भी अजीबो-गरीब चीज़ ही क्यों न हो। इसके बाद आगे का रास्ता खुद-ब-खुद निकलता गया।

हमने बहुत-सी किस्म के सूक्ष्म जीवों का अवलोकन किया। काफी साफ था कि इसके बाद उनका सवाल होता – 'यह क्या है?' मैं इसका जवाब नहीं देता। वास्तव में कई बार तो दे ही नहीं सकता था। सूक्ष्म जीवों की विविधता इतनी व्यापक है और वो इतने फर्क हैं कि मुझे कहना पड़ता था – मैं नहीं जानता। शायद कोई भी नहीं जानता। कल्पना करो कि आप पहले जीवविज्ञानी हैं इस धरती पर जिसने इस जीव को देखा है – आप इसके बारे में औरों को कैसे बताओगे। कैसे खींचोगे इसका चित्र। बिल्कुल उसी तरह का मामला है मानों कोई 'बर्ड वॉचर' माइक्रोस्कोप में से देख रहा हो। मैंने पाया कि विद्यार्थी काफी उत्साहित थे यह सब करते हुए। अवलोकनों से सवाल निकले। इन सवालों ने और अन्वेषण, और अवलोकन करने की ओर प्रेरित किया। आगे क्या करना है इसके बारे में जब भी कोई तार्किक सुझाव आया तो हमने वो सब करके देखा।

विद्यार्थियों ने 'पोषक अगार' या 'मैककोन्की के अगार' को तैयार नहीं किया – बल्कि उन्होंने वह तैयार किया जो उन्हें लगा कि उनके जीवों के लिए बेहतर रहेगा, ज़्यादा पोषक होगा। साल के अंत में जब हमने सिलेबस देखा तो पाया कि सभी कुछ पूरा हो चुका है। हो सकती है न माइक्रो-बायोलॉजी भी, बर्ड वॉचिंग की तरह रोमांचकारी!

मिलिन्द वाटवे: पूना के आबासाहेब गरवारे कॉलेज में माइक्रो-बायोलॉजी पढ़ाते हैं।

(यह लेख 'इंडियन एकेडमी ऑफ साइंसेज़' द्वारा प्रकाशित विज्ञान पत्रिका 'रेज़ोनेन्स' के अक्टूबर 1996 अंक से लिया गया है। मूल लेख अंग्रेज़ी में। अनुवाद: रजनीकांत शर्मा)

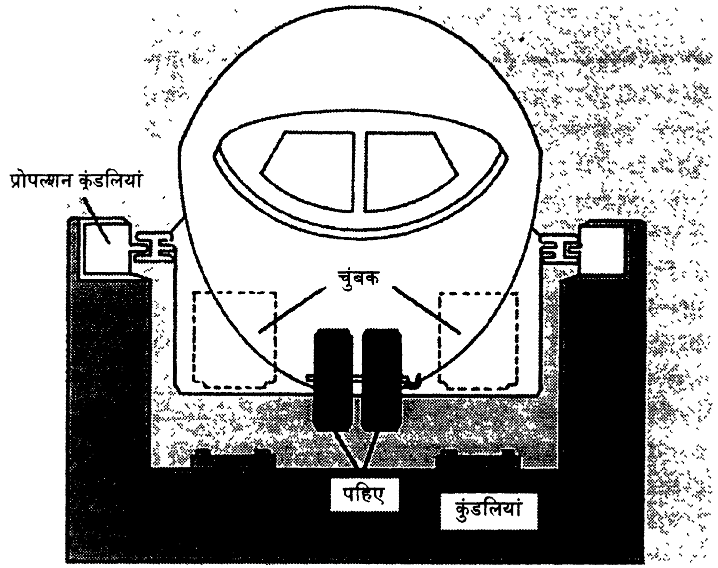

कल्पना करें कि आप किसी ट्रेन मे बैठे हैं, प्लेटफॉर्म को इसने पहियों पर चलते हुए पार किया लेकिन धीरे से यह ज़मीन से छह इंच ऊपर उठ गई – और तैरने लगी अपने गंतव्य की ओर, तीन सौ मील प्रति घंटे (483 कि मी प्रति घंटा) की स्पीड से। कल्पना सी लगने वाली यह बात अब साकार भी हो जाएगी, बस देर इतनी सी है कि कोई वैज्ञानिक ऐसा पदार्थ खोज ले जो सामान्य तापमान पर ही 'अतिचालकता' प्रदर्शित करने लगे। अतिचालकता, मतलब कि जब पदार्थ का विद्युत प्रतिरोधी गुण समाप्त हो जाता है और उसमें से होकर करंट बिना किसी नुकसान के बहता ही रहता है। इसी गुण को ध्यान में रख कर तैयार किया गया ऐसी ही एक ट्रेन का स्केच। इसमें लगे अतिचालक चुंबकों की मदद से यह ज़मीन से छह इंच ऊपर उठेगी और इन चुंबकों द्वारा तैयार किए गए चुंबकीय क्षेत्र की मदद से तैर चलेगी आगे की ओर।

अतिचालकता

अजय शर्मा

यह तो आप मानेंगे कि हमारा रोज़मर्रा का अनुभव प्रकृति के एक सीमित दायरे और चंद आयामों से ही हमें वाकिफ करवा पाता है। इसलिए जब कभी भी हम वैज्ञानिक उपकरणों और सिद्धांतों के ज़रिए अपने सीमित दायरे

से परे तांक-झांक कर पाते हैं, तो प्रकृति की एक अलग ही तस्वीर नज़र आती है। ऐसी तस्वीर जो न सिर्फ अपने-आप में अनूठी होती है, बल्कि ढेरों अनसोची, अनदेखी संभावनाओं से भी हमें मुखातिब करवा जाती है। प्रकृति की इन्हीं तस्वीरों को खोजने, और उनमें छिपी संभावनाओं को यथार्थ में बदल कर दुनिया का काया-कल्प करने की कोशिशों में हमारे वैज्ञानिक बंधु जुटे रहते हैं। भौतिक विज्ञान में ऐसी ही एक ज़ोरदार कोशिश आजकल अतिचालकता (super conductivity) के क्षेत्र में चल रही है।

शोध का यह क्षेत्र पदार्थों के एक ऐसे अनोखे विद्युतीय गुण से ताल्लुक रखता है जो प्रकृति में शायद ही कहीं (कम-से-कम पृथ्वी पर तो नहीं) स्वतः उजागर होता हो। यह इसलिए कि पदार्थ अपने इस अनोखेपन को ऐसी खास परिस्थितियों में ही प्रदर्शित करते हैं, जो फिलहाल प्रयोगशालाओं में ही पैदा की जा सकती हैं। आज दुनिया भर की प्रयोगशालाएं ऐसे पदार्थों को ढूंढने में जुटी हैं जो इस गुण को साधारण (या थोड़ी कम विषम) परिस्थितियों में भी प्रदर्शित कर पाएं। यह खोज मात्र वैज्ञानिक कौतुहल से ही प्रेरित नहीं है। इतिहास में स्वर्णिम अक्षरों में अपना नाम दर्ज कराने की ललक और बेशुमार दौलत की चा भी इन प्रयोगशालाओं को इस विष पर शोध करने के लिए मजबूर क रही है। इस दौड़ में जो सफल ह गया, उसके वारे-न्यारे निश्चित है जी हां, इस गुण से जुड़ी संभावनाएं हीं ऐसी ज़बरदस्त कि अगर व्यवसायिक तौर पर साकार हो जा हैं तो हमारे जीवन का कायाक निश्चित है।

फर्ज़ कीजिए कि भारतीय रेल ऐ रेलगाड़ियां दौड़ा पाए जो बिन पहि के ज़मीन से मात्र 8 मि.मी. की ऊंच पर, हवा में तैरते हुए 500 कि.म प्रति घंटे की रफ्तार से आपको भोप से दिल्ली मात्र डेढ़-दो घंटों में पहुं दे। कल्पना कीजिए एक ऐसी कार जो निर्वात (evacuated) सुरंगों में म साढ़े तीन हज़ार किलोमीटर प्रति घं की रफ्तार से बेआवाज़ तैरते आपको काश्मीर से कन्याकुमारी मिनटों में ही पहुंचा दे, और वह सिर्फ एक लीटर पेट्रोल (प्रति या जितनी ऊर्जा खर्च करके। या सो एक ऐसे परिपथ के बारे में जि करंट बिना कोई वोल्टेज के स्वतः चिरकाल तक बहता रहे। नहीं, वैज्ञानिक गल्प कथाओं की बात कर रहा हूं। ज़मीन से मात्र कुछ मि उठ कर हवा में तैरने वाली ट्रेनें

* इस कार को निर्वात सुरंग में 3500 कि.मी. प्रति घंटे की रफ्तार से तैरा कर ज़रूर नहीं गया है, पर निकट भविष्य में ऐसा हो पाएगा इसकी उम्मीद की जा सकती है।

जर्मनी और जापान में मौजूद हैं। हवा में तैरने वाली कार को प्रयोगशाला में बनाकर देखा जा चुका है। और वाशिंगटन, अमेरिका में एक ऐसा विद्युत परिपथ मौजूद है जिसमें सैंकड़ों एम्पीयर करंट बिना वोल्टेज के, और बिना क्षीण हुए पिछले कई सालों से लगातार बह रहा है। तो फिर अतिचालकता आधारित उपकरणों और मशीनों ने हमारे जीवन में प्रवेश क्यों नहीं किया है? हवा में तैरती ट्रेनें हमें नज़र क्यों नहीं आतीं? दरअसल, यह देरी कोई असामान्य बात नहीं है। प्रयोगशाला में हुई कोई भी ईजाद के आम जीवन में उतरने से पहले व्यवसायिक निर्माता और विक्रेता के लिए पर्याप्त मुनाफे की गुंजाइश होनी चाहिए। माइकल फैराडे ने विद्युत जनरेटर का सिद्धांत सन् 1831 में ही खोज लिया था, पर प्रथम बिजली घर पचास सालों के लंबे इंतज़ार के बाद 1881 में ही बन पाया था। आज अतिचालकता आधारित उपकरणों के साथ भी लगभग यही परिस्थिति है।

अतिचालकता आखिर क्या चीज़ है, और उसके वो कौन से गुण हैं जिनके बूते पर वैज्ञानिक इतने विश्वास से हमारे जीवन के हालातों में ऐसे मूलभूत परिवर्तन करने की बात कर रहे हैं, यह अपने-आप में काफी रोचक विषय है। चूंकि अतिचालकता एक पेचीदा और विकसित (advanced) अवधारणा है, इसे बिना कोई पूर्व तैयारी किए समझना शायद कठिन साबित होगा। इसलिए क्यों न हम पदार्थों में विद्युत चालकता और विद्युत प्रतिरोध जैसी मूलभूत अवधारणाओं का पुनरावलोकन करके ही आगे बढ़ें?

क्या है करंट

सबसे पहला प्रश्न तो यही उठता है कि करंट क्या है। इस सवाल का जो उत्तर आज सर्वमान्य है वह इसी सदी की देन है। इससे पहले वैज्ञानिक यही मानते थे कि करंट एक भारहीन 'द्रव' है जो पदार्थों से होकर बहता है। नए तथ्यों की खोज हमें प्रायः अपनी समझ में भारी फेर-बदल करने पर विवश कर देती है। ऐसा करंट की अवधारणा के साथ भी हुआ। इस सदी की शुरुआत में इलेक्ट्रॉन नामक सूक्ष्मतम परमाण्विक कणों की खोज से यह साबित हो गया कि धातुओं में बहने वाला करंट कोई भारहीन द्रव नहीं अपितु ऋण आवेशित इलेक्ट्रॉनों का प्रवाह है। ये इलेक्ट्रॉन बेहद हल्के ज़रूर होते हैं, परंतु भारहीन नहीं।*

अब चित्र-1 (अगले पृष्ठ पर) में दिए सरल परिपथ पर गौर करें। अपने

* एक इलेक्ट्रॉन का भार = 9.1×10^{-31} kg

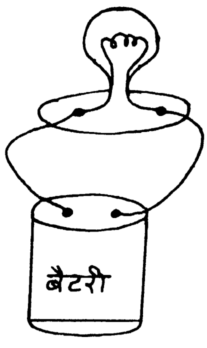

चित्र-1 : सरल परिपथ

पूर्वज्ञान के आधार पर हम जानते हैं कि इस परिपथ में विद्युत धारा प्रवाह बैटरी के कारण ही होता है। यह इसलिए कि बैटरी परिपथ के बिंदु 'क' और 'ख' के विद्युत विभवों में अंतर पैदा कर देती है।

विद्युत विभवों के अंतर को सामान्य भाषा में 'वोल्टेज' भी कहा जाता है। किसी भी परिपथ में करंट 'वोल्टेज' की मौजूदगी के कारण ही बहता है। विद्युत विभव और वोल्टेज की परिभाषाओं में न उलझते हुए, यहां यह जानना ही काफी होगा कि बिंदु 'क' और 'ख' के मध्य वोल्टेज की मौजूदगी आखिर विद्युत धारा का सबब कैसे बनती है। दरअसल होता यह है कि वोल्टेज के कारण परिपथ के तारों और अवयवों में मौजूद इलेक्ट्रॉनों पर एक साथ और एक ही दिशा में विद्युत बल लगने लगता है। यही बल इन इलेक्ट्रॉनों को बैटरी के ऋण ध्रुव से धन ध्रुव की ओर बहने के लिए बाध्य करता है। इलेक्ट्रॉनों के इसी बहाव को हम करंट कहते हैं।

यहां पर एक सवाल उठता है। आप जानते होंगे कि अगर किसी वस्तु पर एक बाहरी बल लगता रहे तो उसकी चाल निरंतर (भले ही धीरे-धीरे) बढ़ती जानी चाहिए।* लिहाज़ा विद्युत बल के कारण इलेक्ट्रॉनों की धन ध्रुव की दिशा में चाल भी निरंतर बढ़ती जानी चाहिए। अब अगर इलेक्ट्रॉनों की चाल में लगातार वृद्धि हो तो करंट की मात्रा में समानुपाती वृद्धि भी निश्चित ही है। पर हम किसी भी परिपथ में ऐसा होता हुआ नहीं पाते हैं।

अगर वोल्टेज स्थिर रहे तो परिपथ पूर्ण होते ही करंट भी शीघ्र शून्य से एक निश्चित मान पर पहुंच कर स्थिर हो जाता है। आखिर क्यों? उत्तर शायद आप भांप ही गए होंगे। करंट का स्थिर रहना इस बात को दर्शाता है कि

* आम जीवन मे ऐसा देखने को नहीं मिलता, पर इसके लिए घर्षण जैसे अवरोधी बल ज़िम्मेदार हैं।

परिपथ के तारों और अन्य अव्यवों में ज़रूर कोई ऐसा गुण विद्यमान है जो विद्युत बल से प्रभावित इलेक्ट्रॉनों को धन ध्रुव की दिशा में अपनी चाल बढ़ाने से निरंतर रोकता रहता है; करंट को स्थिर रखता है। दूसरे लफ्ज़ों में, हर वह पदार्थ, जिसमें से आप करंट बहाते हैं, करंट के बहने में निरंतर रुकावट डालता है। कोई कम तो कोई ज़्यादा। अवरोध के लिए ज़िम्मेदार, पदार्थों के इस विद्युतीय गुण का एक बड़ा ही स्वाभाविक-सा नाम है – विद्युत प्रतिरोध। किसी चीज़ का विद्युत प्रतिरोध कितना है इसका मापन ओह्म नामक इकाई में किया जाता है।

यानी किसी परिपथ में कुल कितना करंट बहेगा, यह न सिर्फ वोल्टेज पर अपितु परिपथ के कुल विद्युत प्रतिरोध पर भी निर्भर करता है। प्रतिरोध जितना ज़्यादा होगा, करंट की मात्रा उतनी ही कम होगी। अगर मिसाल देकर समझा जाए तो किसी पदार्थ से करंट का बहना एक तरह से किसी पाइप में पानी के बहने जैसा ही है। पानी के बहाव की दर पानी के प्रेशर के साथ-साथ पाइप द्वारा बहाव में डाले गए अवरोध पर भी निर्भर करती है; विद्युत धारा की प्रतिरोध पर निर्भरता भी इसी प्रकार की है। पर इस बात से, यह नहीं समझ लेना चाहिए कि पानी के प्रवाह और विद्युत धारा प्रवाह में कोई फर्क नहीं होता। किसी चीज़ को समझने के लिए मिसालों की उपयोगिता एक हद तक ही होती है। उसके आगे अवधारणाओं को उसी विषयवस्तु के संदर्भ में समझना ही मुनासिब रहता है। इसलिए अगर हम पदार्थों में विद्युत प्रतिरोध की और स्पष्ट समझ हासिल करना चाहते हैं, तो इस गुण को परमाण्विक स्तर पर समझना लाज़िमी हो जाता है। चर्चा सहज और सरल रहे इसके लिए फिलहाल हम अपना ध्यान धातुओं में करंट प्रवाह तक ही सीमित रखेंगे।

टक्कर और प्रतिरोध

धातुओं में करंट के रूप में बहने वाले इलेक्ट्रॉन, खुद धातुओं के परमाणुओं से ही प्राप्त होते हैं। दरअसल, होता यह है कि धातुओं के परमाणु अपने सभी इलेक्ट्रॉनों को अपने में बांध कर रख नहीं पाते। हरेक परमाणु से एक निश्चित संख्या में कुछ इलेक्ट्रॉन टूट कर पूरे पदार्थ में स्वतंत्र और बेतरतीब विचरने के लिए आज़ाद हो जाते हैं।* वोल्टेज की मौजूदगी में इन इलेक्ट्रॉनों पर एक खास दिशा में विद्युत बल लगने लगता है। इस बल के कारण इनके स्वतंत्र और बेतरतीब विचरण को अब एक खास दिशा (ऋण

* इन इलेक्ट्रॉनो को चालक इलेक्ट्रॉन भी कहा जाता है।

तालिका 1: प्रतिरोध पदार्थ का एक निहित गुण है। इसकी इकाई ओह्म है। तालिका में 20^0C पर विभिन्न पदार्थों के प्रतिरोध का मान दिखाया गया है।

पदार्थ	प्रतिरोधकता Ω.m.
	चालक
चांदी	$1.62 \times 10^{-}$
तांबा	$1.69 \times 10^{-}$
एल्युमीनियम	$2\ 75 \times 10^{-8}$
टगस्टन	$5\ 25 \times 10^{-8}$
लोहा	9.68×10^{-1}
प्लेटिनम	10.6×10^{-8}
	अर्धचालक
सिलिकॉन (शुद्ध)	$2\ 5 \times 10^{3}$
सिलिकॉन (n टाइप)	$8\ 7 \times 10^{-1}$
सिलिकॉन (P टाइप)	2.8×10^{-3}
	कुचालक
काच	$10^{10}-10^{11}$
फ्यूज़्ड क्वार्टज़	10^{16}

से धन ध्रुव की ओर) मिल जाती है। पर इस दिशा में इनका बहाव बेरोकटोक नहीं हो पाता क्योंकि इनका रास्ते में पड़ने वाले धातु के परमाणुओं से निरंतर टकराव होता रहता है। क्या आप अंदाज़ा लगा सकते हैं कि यह टकराव कितनी जल्दी-जल्दी होते होंगे? अगर तांबे की मिसाल दी जाए, तो गणना करने पर दो टकरावों के बीच का अंतराल मात्र 2.5×10^{-11} सेकंड निकलता है। इतनी जल्दी होने वाले निरंतर टकरावों के कारण ही, विद्युत बल की मौजूदगी के बावजूद इलेक्ट्रॉनों के धन ध्रुव की ओर बहाव की गति निरंतर बढ़ नहीं पाती और एक निश्चित औसत मान पर शीघ्र ही पहुंच कर स्थिर हो जाती है। लिहाज़ा करंट का मान भी स्थिर हो जाता है। बस यही टकराव हैं पदार्थों में विद्युत प्रतिरोध की मौजूदगी का मूल कारण।

किसी भी वस्तु – जैसे कि धातु का तार – का विद्युत प्रतिरोध उसकी आकृति और आकार पर निर्भर करता है। मसलन, एक लंबे तार का विद्युत प्रतिरोध एक छोटे तार के बनिस्बत ज़्यादा होगा। इसलिए अगर हम विभिन्न पदार्थों के विद्युत प्रतिरोधों की तुलना करना चाहें तो यह ज़रूरी हो जाता है कि तुलना करते वक्त सभी पदार्थ एक ही आकार और आकृति के हों। वैज्ञानिकों ने इसके लिए एक मीटर भुजा वाले घन को मानक माना है। किसी पदार्थ के एक मीटर वाले घन की विपरीत सतहों के मध्य विद्युत प्रतिरोध को उस पदार्थ की प्रतिरोधकता (resistivity) कहा जाता है। और इसका मापन ओह्म मी. इकाइयों में होता है। कोई पदार्थ विद्युत धारा प्रवाह में कितनी रुकावट डालता है इसका पता उसकी प्रतिरोधकता के ज़रिए ही लगता है। तालिका में कुछ पदार्थों की प्रतिरोधकता के मान दिए गए हैं।

चित्र- 2 : करंट का बहना और प्रतिरोध

कुछ पदार्थों मे इलेक्ट्रॉन परमाणुओं से काफी मजबूती से बधे होते हैं। इनमे प्रतिरोध काफी ज्यादा होता है क्योंकि विद्युत प्रवाह के लिए इलेक्ट्रॉन नही मिल पाते। जैसे कि रबर और कांच।

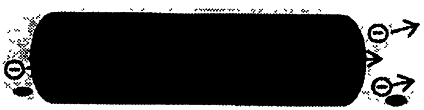

कुछ पदार्थों मे कम प्रतिरोध होने का मतलब है कि इलेक्ट्रॉनो का बधन ढीला होता है; यानी वोल्टेज लगाने पर धारा का प्रवाह शुरू हो जाता है।

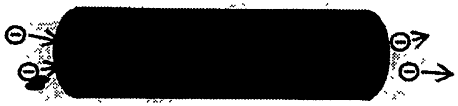

जब पदार्थ अतिचालक बन जाता है तो सारा प्रतिरोध गायब हो जाता है। इस स्थिति मे इलेक्ट्रॉन जोडे के रूप मे आगे बढ़ते है, उनके बीच टक्कर नही होती और बिल्कुल भी ऊष्मा पैदा नहीं होती।

क्या कुचालक, क्या सुचालक

तालिका की एक खासियत जो सबसे ज़्यादा ध्यान आकर्षित करती है, वह है विभिन्न पदार्थों की प्रतिरोध-कता में विशाल अंतर। जहां एक ओर चांदी है जिसकी प्रतिरोधकता मात्र 1.62×10^{-8} ओह्म मी.; और दूसरे छोर पर है फ्यूज़्ड क्वार्टज़ (fused quartz) जो 10^{16} ओह्म मी. की ज़बरदस्त प्रतिरोधकता के कारण विद्युत धारा प्रवाह में सबसे अधिक रुकावट डालता है। पदार्थों के बीच इतना विशाल अंतर किसी और गुण में देखने को नहीं मिलता। जो पदार्थ – जैसे चांदी और तांबा – विद्युत धारा प्रवाह में अधिक अवरोध नहीं डालते, उन्हें सुचालक कहा जाता है।

लगभग सभी धातु सुचालक होती हैं। विद्युत धारा प्रवाह को रोकने वाले पदार्थ कुचालक कहलाए जाते हैं। अधिकतर अधातु कुचालक होते हैं। बीच की प्रतिरोधकता लिए कुछ तत्व, जैसे सिलीकॉन, ऐसे भी होते हैं जो शुद्ध रूप में तो कुचालक होते हैं, पर

मात्र एक प्रतिशत की मिलावट होने पर इनकी प्रतिरोधकता लाखों-करोड़ों गुना कम हो जाती है। अतः इन्हें अर्धचालक कहा जाता है। तालिका से यह भी स्पष्ट है कि कम-से-कम विद्युत प्रतिरोध के संदर्भ में सुचालकों और कुचालकों में कोई मूलभूत अंतर नहीं होता। यह इसलिए कि करंट, कम हो या ज़्यादा, हरेक पदार्थ से बह सकता है। यह बात थोड़ी आश्चर्यजनक ज़रूर लगती है। आखिर वो कुचालक कैसा जिसमें से करंट बह सके। दरअसल कुचालकों और सुचालकों की प्रतिरोधकताओं में विशाल अंतर के कारण आम वोल्टेजों (मसलन 220 वोल्ट) पर किसी कुचालक से बहने वाला करंट इतना क्षीण होता है कि आप क्या, साधारण उपकरण भी उसे महसूस नहीं कर पाते हैं। और जो करंट महसूस ही न किया जा सके उसका होना या न होना, कम-से-कम हमारे लिए, तो बराबर ही है। इसलिए एक आम धारणा बन जाती है कि कुचालकों से करंट तनिक भी नहीं बह पाता, जो सही नहीं है।

कोई पदार्थ कुचालक है या सुचालक इस बात से तय होता है कि विद्युत धारा प्रवाह के लिए कितने आवेशित कण (मुख्यतः इलेक्ट्रॉन) उपलब्ध हो पाते हैं। और इन कणों की उपलब्धता पदार्थ के परमाणुओं के आपसी बंधन की मज़बूती और परमाणुओं के अपने इलेक्ट्रॉनों को अपने से बांधे रखने की क्षमता से निर्धारित होती है। मसलन, जैसा कि हम ज़िक्र कर चुके हैं धातुओं के परमाणु अपने सभी इलेक्ट्रॉनों को

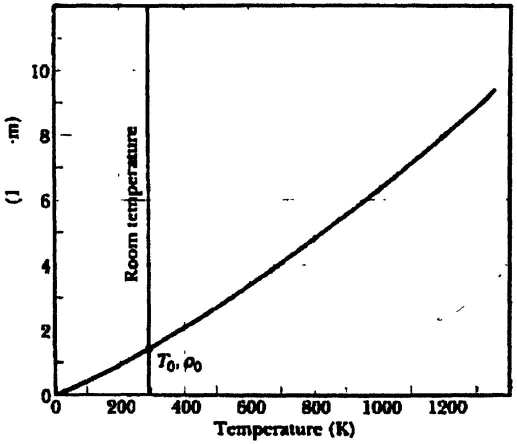

चित्र:3 – तांबे की प्रतिरोधकता और तापमान के बीच संबंध।

अपने से बांधे नहीं रख पाते हैं। फलस्वरूप धातुओं में करंट प्रवाह के लिए इलेक्ट्रॉन बहुतायत में उपलब्ध रहते हैं। वहीं दूसरी ओर कुचालकों में मौजूद प्रायः सभी इलेक्ट्रॉन अपने-अपने परमाणुओं से बंधे रहते हैं। नतीजतन धारा प्रवाह के लिए कम इलेक्ट्रॉन ही जुट पाते हैं और पदार्थ कुचालक कहलाने का पूरा हकदार हो जाता है।

अब तक आप शायद अधीर हो चुके होंगे, क्योंकि हमारी बात अभी तक अतिचालकता पर पहुंच नहीं पाई है। बस थोड़ा-सा धीरज और रखें, और चलते-चलते विद्युत प्रतिरोध की तापमान पर निर्भरता को भी समझते चलें। यह ज़रूरी है क्योंकि अतिचालकता की पूरी कहानी प्रतिरोधकता के इसी पहलू पर केन्द्रित है।

पदार्थों की प्रतिरोधकता उनके तापमान पर निर्भर पाई जाती है। अधिकांश सुचालकों का विद्युत प्रतिरोध तापमान बढ़ाने पर बढ़ जाता है और तापमान घटाने पर उसी अनुपात में घट भी जाता है (देखें चित्र:3)। इस किस्म की निर्भरता की वजह है तापमान में परिवर्तन का सुचालकों के परमाणुओं पर प्रभाव। तापमान के बढ़ने से परमाणुओं का अपनी जगहों पर कंपन बढ़ जाता है। अब ज़ाहिर है कि परमाणु जितने ज़्यादा कांपेंगे, अपनी जगह से जितना अधिक हिलेंगे-

चित्र-4: के. ओन्स: अतिचालकता खोजी

डुलेंगे, चालक इलेक्ट्रॉनों से उनके टकराव की संभावना उतनी ही अधिक हो जाएगी। परिणाम स्वरूप विद्युत प्रतिरोध भी उसी अनुपात में बढ़ जाता है।

तापमान का कुचालकों की प्रतिरोधकता पर कोई खास प्रभाव नहीं पड़ता। हां, अर्धचालकों के साथ ज़रूर एकदम उल्टा होने लगता है, उनकी प्रतिरोधकता तापमान बढ़ाने पर तेज़ी से घटने लगती है। अब हम आते हैं अतिचालकता पर।

जब प्रतिरोध गायब हो गया

सन 1911 की बात है, डच भौतिक शास्त्री के. ओन्स अत्याधिक कम तापमानों पर धातुओं की विद्युत धारा प्रवाह की क्षमता पर शोध करने

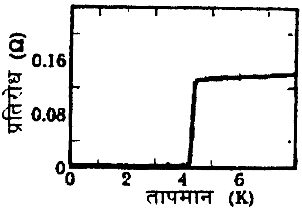

चित्र-5 : 4°K तापमान पर पारे की प्रतिरोधकता गिरकर शून्य हो जाती है। इस तापमान पर पारा ठोस होता है।

में रमे हुए थे। एक दिन उन्होंने पारे को जमाया और निरंतर घटते तापमानों पर उसके विद्युत प्रतिरोध का मापन करने में जुट गए। वे जानते थे कि तापमान घटाने पर विद्युत प्रतिरोध कम हो जाता है, और उनका प्रयोग भी इसी बात की गवाही दे रहा था। 10 डिग्री केल्विन (यानी -263 डिग्री सेल्सियस) पर पारे का विद्युत प्रतिरोध घट कर सामान्य तापमान (यानी करीब 23 डिग्री से.) पर प्रतिरोध का सौवां हिस्सा रह गया था। उन्होंने धीरे-धीरे तापमान और घटाया। तापमान जैसे ही 4.2 डिग्री केल्विन पर पहुंचा, एक अभूतपूर्व घटना घटी जिसने उन्हें हतप्रभ कर दिया। उन्होंने पाया की पारे का विद्युत प्रतिरोध थोड़ा और कम होने के बजाए अचानक एकदम गायब हो गया था (देखें चित्र-5)। अब ठोस पारे से करंट बिना कोई विद्युत प्रतिरोध का सामना किए बेरोकटोक बह रहा था। इस चमत्कारी क्रिया को उन्हान नाम दि अतिचालकता। उन्होंने अन्य धातुअ और मिश्र धातुओं पर यही प्रयोग दोहराया और पाया कि कुछ और धातुएं और मिश्र धातुएं भी भिन्न-भिन्न तापमानों के नीचे इस गुण का प्रदर्शन करने लगती हैं। वह तापमान जिस पर पहुंचते ही कोई पदार्थ अतिचालक बन जाता है, उसका 'अतिचालक संक्रमण तापमान' (Super Conductive Transition Temperature) कहलाता है। कमाल की बात यह है कि इस तापमान पर पहुंचने पर पदार्थ के गुणों में एकदम अचानक मूलभूत परिवर्तन होते हैं। अगर कोई अतिचालक पदार्थ अपने 'अतिचालक संक्रमण तापमान' पर है तो तापमान में एक डिग्री के हज़ारवें अंश की वृद्धि भी अतिचालक को एकदम सामान्य और विद्युत प्रतिरोध से युक्त सुचालक बना देगी। इस तरह के परिवर्तन अवस्था परिवर्तन (Phase Transition) कहलाते हैं। पानी का भाप में बदलना, बर्फ का पानी बनना भी अलग-अलग किस्म के अवस्था परिवर्तन ही हैं।

जब इलेक्ट्रॉन जोड़े में बहते हैं

'के. ओन्स' के समय अतिचालकता एक अनोखा रहस्य था। यह रहस्य तकरीबन 46 सालों तक बरकरार रहा। बारडीन, कूपर और शिफर के संयुक्त प्रयासों से 1957 में जन्मे

बीसीएस सिद्धांत (BCS Theory) के ज़रिए ही अंततः वैज्ञानिक इस गुत्थी को सुलझा पाए। इस सिद्धांत को क्वांटम यांत्रिकी की मदद के बिना समझाना कठिन है, पर एक मोटे स्तर पर समझा जाए तो इस सिद्धांत के अनुसार 'अतिचालकता संक्रमण तापमान' पर पहुंचते ही पदार्थ के इलेक्ट्रॉन अकेले बहने के बजाय दो-दो की जोड़ियों में बहना शुरू कर देते हैं। अतिचालकता का पूरा कमाल इसी बात पर आधारित है क्योंकि जोड़ियों में बहते ही इलेक्ट्रॉनों के पदार्थ के परमाणुओं से टकराव बंद हो जाते हैं। उलटे ये परमाणु भी इलेक्ट्रॉनों के प्रवाह में मदद करने लगते हैं। अब जब मर्ज़ ही दवा बन जाए तो परेशानी कैसी। लिहाज़ा विद्युत प्रतिरोध गायब हो जाता है और पदार्थ सुचालक से अतिचालक बन जाता है। क्वांटम यांत्रिकी की मदद के बिना इस गुण को और गहराई से समझना तो कठिन होगा, पर यह ज़रूर स्पष्ट कर देना चाहूंगा कि चालकता और अतिचालकता बुनियादी तौर पर भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएं हैं।

सुचालकों और अतिचालकों में करंट एकदम अलग-अलग ढंग से बहता है। इसलिए अतिचालकता को महज़ चालकता में एक ज़बरदस्त सुधार बतौर देखना सही नहीं होगा। मिसाल के तौर पर, चांदी और तांबा सबसे अच्छे सुचालक माने जाते हैं। आप उम्मीद करेंगे कि 'अतिचालक संक्रमण तापमान' के नीचे ये उतने ही अच्छे अतिचालक साबित होंगे। पर ऐसा नहीं होता। वैज्ञानिक इन दोनों सुचालकों को अतिचालक बनाने में असफल रहे हैं। वहीं दूसरी ओर सिरेमिक (Ceramic) पदार्थ जो सामान्य तापमान पर कुचालक होते हैं, कम तापमान पर सबसे अच्छे अतिचालक साबित होते हैं। है न कमाल की बात। दरअसल, दुनिया के बारे में हमारी सामान्य समझ उन्हीं परिस्थितियों के संदर्भ में विकसित हुई है जिनमें हम अपना जीवन व्यतीत करते हैं। इन हालातों में जब भी भारी फेरबदल होती है, तो प्रकृति अक्सर अप्रत्याशित और अनोखे रूप धारण कर लेती है। ऐसे रूप जिन्हें समझने के लिए हमारी समझ अपर्याप्त और अक्सर गलत साबित होती है।

अपने निराले गुणों के कारण अतिचालक के उपयोग की कई ज़बरदस्त संभावनाएं वैज्ञानिकों को नज़र आती हैं। इनमें से कई तो फिलहाल मात्र विचारों के रूप में हैं; और कुछ वास्तविकताओं में बदल कर हमारे उपयोग में आने लगी हैं। इससे पहले कि अतिचालकता पर आधारित तकनीक और उपकरण एक बड़े पैमाने पर हमारे जीवन में प्रवेश करें, वैज्ञानिकों को कुछ चुनौतियों से निपटना पड़ेगा। इनमें सबसे बड़ी चुनौती है

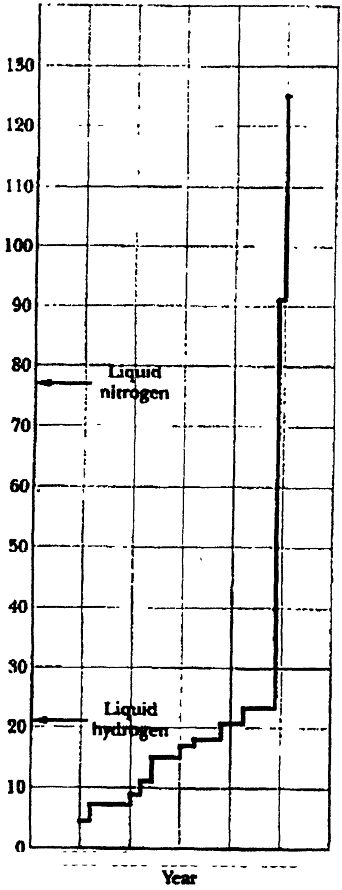

1911 से 1991 तक का सफर – विभिन्न पदार्थों में हासिल उच्चतम अतिचालक क्रांतिक तापमान का ग्राफ।

तापमान की। अतिचालकता बहुत ही कम तापमान पर उजागर होती है (देखें तालिका)। पदार्थों को उनके 'अतिचालक संक्रमण तापमान' से नीचे के तापमान तक पहुंचाना और उस तापमान पर बरकरार रखना बड़ा ही महंगा और कठिन साबित होता है। इसलिए शुरू से ही अतिचालकता के शोधकर्ताओं में आपस में होड़ लगी रही है कि कौन सबसे अधिक 'अतिचालक संक्रमण तापमान' वाला पदार्थ खोज निकाले। इस स्पर्धा की शुरुआत 1911 में 4.2 डिग्री केल्विन संक्रमण तापमान वाले पारे से हुई थी। और आज आलम यह है कि वैज्ञानिकों ने ऐसे यौगिक (बिसमथ और थैलियम ऑक्साइड) खोज निकाले हैं जो 125°K (यानी -148°C) के अपेक्षाकृत 'गरम' तापमान पर ही अतिचालक बन जाते हैं। यह दौड़ जारी है और अब वैज्ञानिक ऐसे पदार्थों की खोज में जुटे हैं जो सामान्य तापमानों (20-22°C) पर भी अतिचालक बने रहें। जिस दिन यह संभव हो गया, मुमकिन है उस दिन से एक नए युग की शुरुआत हो।

आज और भविष्य में भी अतिचालकता का प्रमुखतम उपयोग संभवतः अतिशक्तिशाली विद्युत-चुबंक

* टेसला · चुंबकीय बल क्षेत्र के मापन की इकाई है। तुलना के लिए शायद यह जानना सार्थक होगा कि पृथ्वी का चुंबकीय बल क्षेत्र लगभग 10^{-4} टेसला है।

बनाने में हो सकेगा। साधारण विद्युत-चुंबक तांबे के तार को लोहे की छड़ (या छल्ले) के ऊपर कुंडली लपेटकर बनाए जाते हैं। आमतौर पर इनका उपयोग 1.5 टेसला* (Tesla) तक के चुंबकीय बल क्षेत्र पैदा करने में किया जाता है। साधारण विद्युत-चुंबकों से इससे ज़्यादा शक्तिशाली चुबकीय बल क्षेत्र स्थापित करने में दो तरह की दिक्कतें आती हैं। पहली यह कि तांबे के तारों में विद्युत-प्रतिरोध के कारण विद्युत ऊर्जा का एक भाग ऊष्मा, यानी गर्मी, में बदल कर अनुपयोगी हो जाता है। अगर हम शक्तिशाली विद्युत-चुंबक बनाने के चक्कर में करंट की मात्रा बढ़ा देते हैं तो ऊर्जा का नुकसान तो बढ़ता ही है, साथ ही ज़्यादा गर्मी पैदा होने के कारण तारों के पिघलने और विद्युत-चुंबक के नष्ट होने का खतरा भी रहता है। सामान्य तौर पर शक्तिशाली विद्युत-चुंबकों को निरंतर ठंडा करने की व्यवस्था होती है। पर यह सब इंतज़ाम काफी मंहगा पड़ जाता है।

अति चालकता से निर्मित विद्युत-चुंबकों में इस तरह की परेशानियों का सवाल ही नहीं उठता। प्रतिरोध शून्य होने के कारण न तो विद्युत ऊर्जा का कोई नुकसान होता है और न ही तारों के तनिक भी गर्म हौने का कोई खतरा। लिहाज़ा ढेर सारा करंट बहा कर अतिशक्तिशाली चुंबकीय क्षेत्रों का सृजन किया जा सकता है।

अतिशक्तिशाली विद्युत-चुंबकों के ढेर सारे उपयोग सोचे जा सकते हैं। इनमें शायद सबसे ज़्यादा प्रचारित उपयोग होगा हवा में तैरती हुई ट्रेनों का विकास। यह ट्रेनें अभी भी परीक्षण अवस्था में हैं क्योंकि वैज्ञानिक उच्च ताप (कम से कम द्रवीय नाइट्रोजन के तापमान यानी लगभग 78 डिग्री केल्विन) पर अतिचालक बने रहने वाले ऐसे पदार्थ नहीं खोज पाए हैं जो आसानी से बनाए जा सकें, जिन्हें मज़बूत तारों में सुगमता से ढाला जा सके और जिनकी अतिचालकता आसानी से नष्ट न हो।

ऐसी संभावना है कि भविष्य में अतिचालक विद्युत-चुंबकों की मदद से आकार में बेहद छोटी, परंतु शक्तिशाली और कुशल विद्युत मोटरों का निर्माण हो सकेगा। इन मोटरों की वजह से संभव है कि भविष्य में पेट्रोल-डीज़ल से चलने वाली गाड़ियों के दिन लद जाएं और उनकी जगह अतिचालक विद्युत मोटर आधारित शक्तिशाली, शांत और प्रदूषणरहित गाड़ियां ले लें।

अतिचालकता का दूसरा प्रमुख उपयोग संभवतः विद्युत ऊर्जा संग्रह और स्थानांतरण में होगा। साधारण परिपथों में करंट को बरकरार रखने के लिए वोल्टेज का होना ज़रूरी होता है। यह इसलिए कि विद्युत ऊर्जा का

कुछ भाग विद्युत प्रतिरोध की वजह मे निरंतर ऊष्मा में बदलता रहता है। इसके विपरीत अतिचालक परिपथों में अगर एक बार करंट बहना चालू हो जाए तो फिर बिना वोल्टेज के और बिना घटे, चिरकाल तक बहता रहना है। यानी परिपथ की विद्युत ऊर्जा संग्रहित रहती है। वाशिंगटन, अमेरिका में मौजूद एक विशाल अतिचालक परिपथ का उपयोग विद्युत ऊर्जा को संग्रहित करने के लिए किया जाता है। इस परिपथ में पांच मेगावॉट तक की विद्युत ऊर्जा संग्रह की जा सकती है, जिसका ज़रूरत पड़ने पर इस्तमाल कर लिया जाता है।

अति चालकों के कम्प्युटरों में उपयोग की भी संभावनाए हैं। कई प्रयोगशालाओं में आज वैज्ञानिक ऐसे तरीकों को ईजाद करने में जुटे हैं जिनके ज़रिए केवल सौ-एक परमाणुओं जितनी मोटाई की अत्यन्त पतली अतिचालक परतों को 'कम्पयूटर चिप' पर जमाया जा सके। ऐसी चिप की मदद से भविष्य में और छोटे, किंतु शक्तिशाली कम्प्यूटर बनाना संभव हो सकेगा। अतिचालकता की मदद से शक्ति-शाली चुंबक तो बनाए जा सकते ही हैं; पर आपको यह जानकर शायद अचरज हो कि कई प्रयोगशालाओं में अतिचालकों का उपयोग अत्यंत क्षीण चुंबकीय बलों को नापने में भी किया जाता है।

इसके अलावा बड़ी प्रयोगशालाओं में आजकल अति चालकता आधारित उपकरणों का उपयोग नाभिकीय शोध में भी खूब हो रहा है।

सस्ते, आसानी से बनने वाले, मज़बूत और उच्च ताप वाले अति-चालकों को खोजने की दौड़ में कई भारतीय शोध संस्थान भी ज़ोर-शोर से शामिल हैं, जैसे राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशालाएं, टाटा मूलभूत शोध संस्थान और, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंसेज़ आदि। शायद हम हिन्दुस्तानी ही यह बाजी मार ले जाएं। आमीन।

अजय शर्मा· एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम से संबद्ध।

गिरते तो हैं वर्तिकाग्र पर ढेर सारे परागकण, लेकिन उनमें से सफल होता है कोई एक ही अंडाणु तक पहुंचने में।

पराग कण का सफर

भोलेश्वर दुबे, स्निग्धा मित्रा

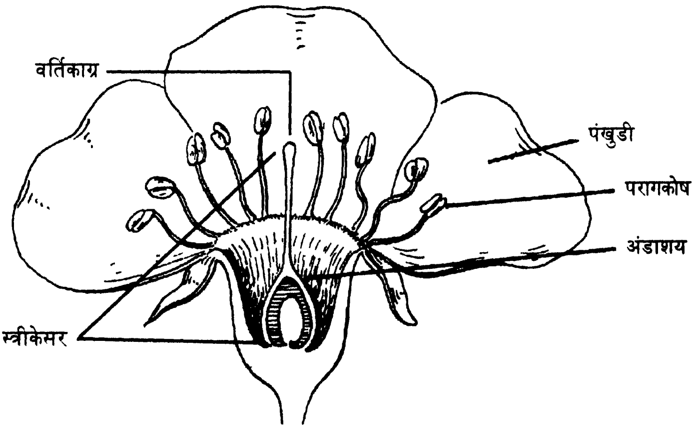

एक फूल की काट

परिपक्व परागकोष के फटने से असंख्य परागकण हवा, पानी, कीट, द्वारा फूल के वर्तिकाग्र पर पहुंचते हैं। एक नए पौधे के निर्माण के लिए यह पहला ज़रूरी कदम होता है। परन्तु इसके बाद की प्रक्रिया के बारे में ज़्यादातर लोग एकदम अनजान होते हैं। एक आम मान्यता यह है कि स्त्रीकेसर के ऊपरी हिस्से – वर्तिकाग्र – पर पहुंचा परागकण स्त्रीकेसर की नली – वर्तिका – में से अंदर की तरफ गिरकर अंडाशय तक पहुंच जाता है, क्योंकि वर्तिका अंदर से एकदम पोली होती है।

अक्सर लोगों को यह सुनकर अचंभा होता है कि वर्तिकाग्र पर पहुंचने के बाद परागकण में से परागनली निकलती है जो वर्तिका में से होती हुई अंडाशय तक पहुंचती है और इस नली के ज़रिए नर कोशिका अंडाशय तक पहुंचती है। फिर यहां नर और मादा जनन कोशिका का मिलन होता है। एक अत्यन्त छोटे परागकण में से निकली हुई नली इतनी दूर जा सकती है, यह शायद आश्चर्य की बात है ही।

इस प्रक्रिया का और विस्तार से अध्ययन करने के लिए ज़रूरी है कि परागकण, वर्तिकाग्र और वर्तिका की बनावट के बारे में कुछ और जानकारी हासिल कर लें।

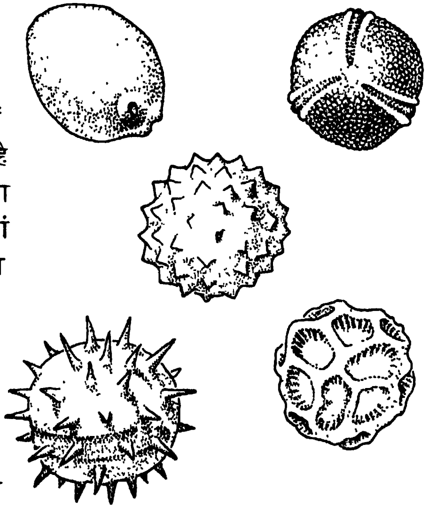

अलग-अलग आकार के परागकण

परागकण की बनावट

आमतौर पर परागकण गोलाकार होता है जैसा कि जासौन या बेशरम में। (परन्तु कई पौधों में परागकण अंडाकार, अर्धगोल, तिकोने एवं अन्य आकार के भी होते हैं।) ऐसे ही परागकण की बाहरी परत अक्सर खुरदुरी होती है, परन्तु ज़रूरी नहीं कि हर परागकण की बाहरी भित्ती खुरदुरी नज़र आए।

पूर्ण रूप से विकसित परागकण जब परागकोष से अलग होता है, तो वह एक द्विकोशीकीय संरचना होता है। यानी कि हम यह कह सकते हैं कि

3 बिखरने के लिए तैयार परागकण: चित्र में अधखुली स्थिति में एक परागकोष, उसमें मौजूद परागकण और उसके आगे से जाती हुई पतली डंडी जैसी रचना दिख रही है जो वर्तिका है।

पुंकेसर पुष्प की नर रचना है जिसमें परागकण मौजूद होते हैं। परिपक्व होने के बाद ये परागकण हवा, कीट, पक्षी या किसी अन्य माध्यम से स्त्रीकेसर के वर्तिकाग्र तक पहुंचते हैं। एक फूल में ही आमतौर पर वर्तिका और परागकण के परिपक्व होने का समय फर्क होता है और अक्सर एक फूल के परागकण दूसरे फूल की वर्तिका पर अंकुरित होते हैं।

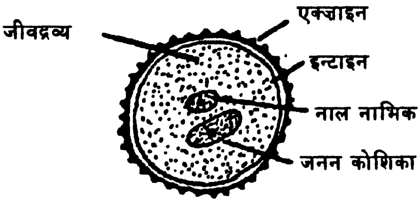

परागकण का रेखाचित्र

आमतौर पर परागकोष से मुक्त होने की अवस्था में परागकण अपने में जीवद्रव्य के साथ एक जनन कोशिका और नाल नाभिक को समाए रखता है।

पूर्ण विकसित पराग कोशिका यानी परागकण के जीवद्रव्य में काफी मात्रा में मंड व थोड़ी मात्रा में वसा और प्रोटीन भी पाए जाते है। परागकण की भित्ति दो परतों से बनी होती है। बाहरी भित्ति ज़्यादातर खुरदुरी होती है और इसमें स्पोरोपॉलेनिन नामक रासायनिक पदार्थ होता है। इस भित्ति के कारण पराग कण को स्थायित्व और सुरक्षा मिलती है। क्योंकि स्पोरोपॉलेनिन के कारण उसे आसानी से नष्ट नहीं किया जा सकता।* इस भित्ति में कुछ प्रोटीन पदार्थ भी होते हैं। इस बाहरी भित्ति को एक्ज़ाइन कहा जाता है। इसी भित्ति पर होती हैं कुछ छिद्रनुमा रचनाएं। कहीं तो साफ छिद्र होते हैं, तो कहीं बाहर की तरफ निकली हुई टोपीनुमा रचनाएं, जिनके ऊपर बाहरी भित्ति काफी कमज़ोर होती है। इन्हीं संरचनाओं से अंदर की भित्ति, इन्टाइन, नलिका के रूप में निकलती है। इस अंदरूनी दीवार में कार्बोहाइड्रेट**, प्रोटीन और वसा पाए जाते हैं। जहां-जहां बाहरी दीवार में छिद्र होते हैं वहां अंदरूनी भित्ति बहुत मोटी होती है और वहां काफी मात्रा में प्रोटीन पाए जाते हैं।

वर्तिका की बनावट

अब वर्तिका तथा वर्तिकाग्र की संरचना के बारे में भी कुछ ज़रूरी बातों का ज़िक्र कर लें।

वर्तिकाग्र की बाहरी सतह साधारणतः खुरदुरी और चिपचिपी होती है। अगर बहुत बारीकी से देखें तो स्पष्ट होता है कि वहां पर मौजूद कोशिकाएं अत्यंत सूक्ष्म बालनुमा रचनाएं बनाती हैं। ताकि जब पराग कण आए तो पकड़ मज़बूत तो हो, और एक बार परागकण फंस जाए तो हवा या अन्य कारक परागकण को उड़ाकर न ले जाएं। इन संरचनाओं की बाहरी भित्ति मुख्यतः कुछ प्रोटीन

* कुछ एक बीज पत्री पौधों में बाहरी भित्ति काफी क़मज़ोर होती है जैसे कि केले की समस्त प्रजातियों में।

** पेक्टीन और सेल्युलोज़।

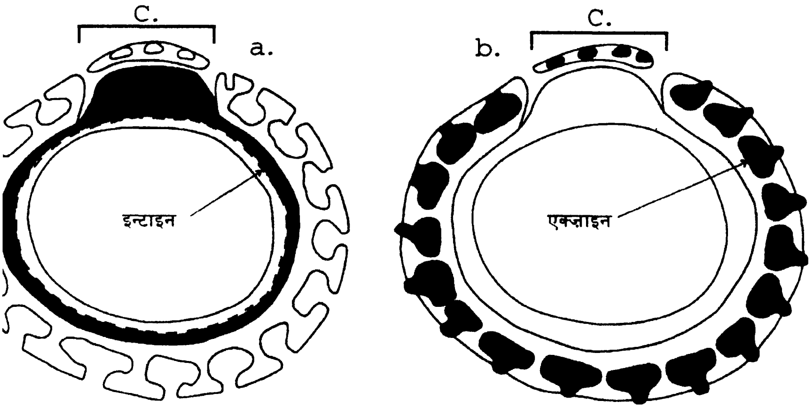

एक ही परागकण की दो स्थितियां; जिसमें प्रोटीन मिलने की जगह दिखाई गई है। a. इन्टाइन – अंदरूनी भित्ती – पर प्रोटीन की स्थिति b. एक्ज़ाइन – बाहरी भित्ती पर प्रोटीन की स्थिति। C. परागकण के ऊपर की ओर टोपीनुमा रचना दिख रही है।

दार्थों से बनी होती है। इनके नीचे छ ऐसी ग्रंथीनुमा कोशिकाएं होती जिनमें से शर्करा जैसे पदार्थ स्रावित ोते हैं। अक्सर वर्तिका ठोस होती है जसके बीच के हिस्से में कुछ विशेष तक होते हैं जिनकी कोशिकाओं की ाहरी भित्ती मोटी और रेशेदार होती । इस भित्ती में कुछ पुटक (Vesicle) ी होते हैं।* पराग नली इसी परत में होकर आगे बढ़ती है। इन कोशिकाओं बीच की जगह में कुछ रासायनिक दार्थ (केल्शियम पेक्टेट) तथा प्रोटीन रे रहते हैं।

कुछ पौधों में वर्तिका खोखली होती , परन्तु उनमें भी इस खोखली- रचना पर ग्रंथिनुमा कोशिकाएं होती हैं जो पोषक पदार्थ स्रावित करती हैं।

कई किताबों में पढ़ने को मिलता है कि अंडाशय के उस सिरे से जहां से बाद में अंकुरण होता है, कुछ रासायनिक पदार्थ भी स्रावित होते हैं। इन रसायनों के प्रति संवेदनशील होने के कारण पराग नली उसी तरफ बढ़ती है। इसके बारे में अभी तक कोई ठोस सबूत नहीं मिला है, मगर यह कहा जाता है कि केल्शियम आयनों की सांद्रता की वजह से शायद यह तय होता होगा। *इन सब संरचनाओं को इतनी गहराई से समझना इसलिए ज़रूरी है क्योंकि पराग नली का निकलना और फिर आगे बढ़कर अंडाणु तक पहुंचना इन्हीं पर आधारित है।*

* इस संदर्भ में पुटक छोटी गेंदनुमा रचनाएं हैं जिनमें बारीक झिल्ली के अंदर पोषक पदार्थ भरा रहता है।

वर्तिका पर टिका परागकण: बालनुमा रचनाएं — जो मूल आकार से काफी बड़ा करके देखने पर उंगलीनुमा लग रही हैं — परागकण को वर्तिकाग्र पर रोके रखने का काम करती हैं। ताकि हवा या अन्य कारक उसे उड़ाकर कहीं और न ले जाएं।

सफर की शुरुआत

जब वर्तिकाग्र पर परागकण गिरता है तो वह वर्तिकाग्र की उंगलीनुमा रचनाओं में फंस जाता है। फिर शुरू होती है पहचानने की प्रक्रिया, जो परागकण की बाहरी भित्ति पर पाए जाने वाले प्रोटीन तथा वर्तिकाग्र की उंगलिनुमा आकृतियों की दीवार पर स्थित प्रोटीन के आपसी तालमेल से तय होती है।

अगर पहचान का यह पहला कदम सफल रहा तो ग्रंथीनुमा कोशिकाओं से पानी और शर्करा जैसे पदार्थ स्रावित होने लगते हैं। इससे परागकण पानी सोखने लगता है और उसके जीवद्रव्य में पानी की मात्रा बढ़ने से परागकण की अंदरूनी दीवार पर दबाव पड़ता है। स्वाभाविक है कि परागकण की बाहरी भित्ति पर भी दबाव पड़ता होगा। इससे जहां कहीं बाहर वाली भित्ति में कमज़ोर जगह या छिद्र थे वहां से अंदरूनी भित्ति बाहर निकल आती है। अक्सर यह अंदरूनी भित्ति एकसाथ कई जगह से बाहर निकल आती है, परन्तु उनमें से केवल किसी एक छेद में से जनन कोशिका और नली केन्द्रक भी बाहर निकल जाते हैं। जिस तरफ के छिद्र में से अंदरूनी

त्ति के साथ-साथ ये दोनों भी निकल एं उसी छेद में से निकली हुई ़रूनी भित्ति परागनली के रूप में गे बढ़ती है।*

शुरुआत में परागनली को आगे ़ने (वृद्धि) के लिए कुछ पोषण तो र्तिकाग्र के शर्करा जैसे पदार्थ से ही प्त होता है और कुछ परागकण के वद्रव्य में मौजूद मंड में से मिल ता है। परागनली जब आगे ़ती है तो उसे वर्तिका से पोषक ार्थ मिलने लगते हैं, और नली की द्धि होती चली जाती है।

वर्तिकाग्र से जब परागनली वर्तिका में पहुंचती है तो यहां भी परागकण की पहचान की प्रक्रिया चलती है। वर्तिका के अन्तर्कोशिकीय जगह में पाए जाने वाले प्रोटीन परागनली से क्रिया करके फिर से पता करते हैं कि सही परागकण की नली ही है न। यह पहचान अगर सफल हुई तो परागनली वर्तिका में मौजूद ऊतकों को गलाते

एक परागकण का कई गुना बड़ा चित्र। इसमें कई छिद्र दिख रहे हैं। इन्हीं में से किसी से निकलेगी परागनली।

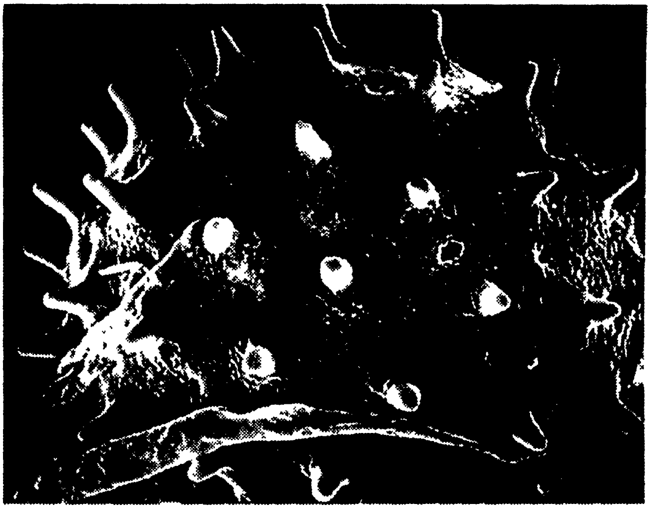

कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं जिनमें नली केन्द्रक परागकण में ही रह जाता है, परागनली के साथ ागे नहीं बढ़ता। और दूसरी ध्यान देने योग्य बात है कि परागनली के साथ आगे बढ़ने वाला नली न्द्रक, जनन कोशिका के आगे भी हो सकता है और पीछे भी।

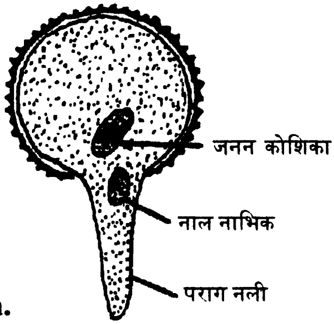

a.

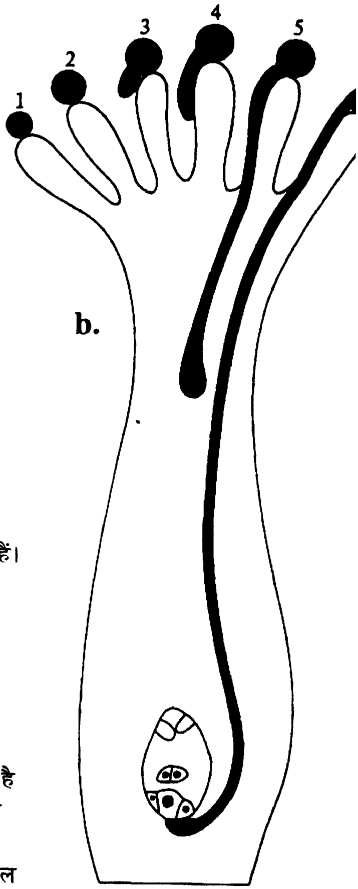

b.

a. परागकण के छिद्रों में से किसी से भी परागनली निकल सकती है, लेकिन बढ़ेगी आगे वही जिसके साथ जनन कोशिका व नली केंद्रक होगा।

कीट, हवा, पक्षी आदि अपने साथ विभिन्न प्रजातियों के परागकण वर्तिकाग्र पर पहुंचा देते हैं। इसलिए सबसे पहले तो इसी बात की पहचान होती है कि क्या यह सही परागकण है। अगर परागकण अपनी ही प्रजाति का है तो ही बात आगे बढती है।

b. वतिकाग्र पर गिरे परागकणों की अलग-अलग स्थितियां : 1. सबसे पहली पहचान वर्तिकाग्र पर; अगर दूसरी प्रजाति का परागकण है तो पहचाना नहीं जाता और वैसा ही पड़ा रहता है। 2. अगर अपनी ही प्रजाति का है तो उसे वर्तिकाग्र मे पानी व अन्य पदार्थ लेने की छूट मिल जाती है और वो फूल जाता है। 3. दबाव के कारण इन्टाइन छिद्रों से बाहर निकल आती है, और परागनली का स्वरूप ले लेती है। लेकिन हर कदम पर पहचान का सिलसिला चल रहा है। यहां नली थोड़ा आगे बढ़कर ही रुक गई है। 4. नली और आगे बढ़ी और उसने वर्तिकाग्र के भीतर प्रवेश कर लिया लेकिन वो यहां से आगे नहीं बढ़ पाई। 5. नली वर्तिका के काफी भीतर पहुंचकर भी रुक गई। 6. इस परागकण से निकली नली अंडाशय तक पहुंच गई।

परागनली – एक प्रयोग

एक टेस्ट ट्यूब में करीब 10 मि. ली. पानी लेकर उसमें एक चम्मच शक्कर डालिए और हिला कर घोल बना लीजिए। एक स्लाइड पर किसी भी फूल के परागकणों को खंखेर लीजिए और शक्कर के घोल की एक-दो बूंदें उस पर टपकाइए। इस स्लाइड को करीब आधा घंटा रखे रहने दीजिए।

अब आप इस स्लाइड को साधारण माइक्रोस्कोप से देखेंगे तो कुछेक परागकणों से आपको नलीनुमा रचना निकलती दिखेगी। अगर स्लाइड का घोल सूखे नहीं तो थोड़ी देर बाद ये रचनाएं और लंबी हो जाएंगी। यही है वो परागनली जो बीजांड तक पहुंचती है।

हुए आगे बढ़ती जाती है। पराग नली की दीवार में से कुछ एंज़ाइम स्रावित होते हैं जिनसे ऊतक आसानी से गल जाते हैं। वैसे भी वर्तिका में मौजूद इन ऊतकों की बुनावट काफी ढीली व कमज़ोर होती है। परागनली को आगे बढ़ने के लिए ऊर्जा और पोषक पदार्थ भी वर्तिका के इन विशेष ऊतकों ('ट्रांसमिटिंग टिश्यूज़') से ही मिलते हैं और इससे पराग नली और आगे बढ़ती जाती है।

अगर वर्तिका खोखली हो तो परागनली वर्तिका की दीवार के सहारे आगे बढ़ती है।

मगर अभी भी रोक लगाने की प्रक्रिया खत्म नहीं हुई है। ठीक अंडाशय की दीवार पर परागकण को एक बार फिर परखा जाता है। इस बार यह काम अंडाशय की दीवार के प्रोटीन करते हैं। अगर परागनली इस परीक्षा में भी सफल रही तो अंडाशय की दीवार से स्रावित होने वाले किसी कारक से परागनली में उपस्थित जनन कोशिका दो भागों में विभाजित हो जाती है। कुछ प्रजातियों में सफर के शुरुआती चरणों में ही विभाजन की यह क्रिया हो जाती है।

तत्पश्चात, अंडाशय के उस हिस्से के ऊतकों में से जहां से बाद में अंकुरण होने वाला है, पानी परागनली में अवशोषित हो जाता है जिससे कि इस जगह पर परागनली फूलकर फट जाती है, और नर जनन कोशिकाएं अंडाशय में मुक्त हो जाती हैं। इस दौरान नली केंद्रक भी नष्ट हो जाता है। दोनों नर कोशिकाओं में से एक जाकर मादा जनन कोष को निषेचित करती है और भ्रूण बन जाता है। दूसरी नर जनन कोशिका भ्रूणपोष बनाने के लिए अंडाशय की एक अन्य कोशिका

भुट्टे की मूंछ

मक्का के भुट्टे से निकलते रेशमी बाल असल में मक्का के मादा पुष्पों की वर्तिकाएं हैं। इनकी लंबाई लगभग 50 से. मी. तक होती है। इस पर पहुंचने वाले परागकणों से निकली पराग नलिका को अंडाणु से मिलने के लिए इस वर्तिका से गुज़रना होता है। है न लंबा सफर!

से जाकर मिल जाती है।

आखिर इस तरह तय होता है यह लम्बा सफर। मगर अभी भी इस सफर के कुछ पहलुओं के बारे में पर्याप्त जानकारी नहीं है जैसे कि अंडाशय में ठीक कौन-सा कारक है और वह किस तरह पराग नली के अन्तिम चरण में विभिन्न बदलावों का कारण बनता है।

प्रजनन की इस प्रक्रिया में और भी बहुत-सी बारीकियां हैं कि परागकण आखिर बनता कैसे है, या फिर अंडाशय में मादा जनन कोशिका का निर्माण कैसे होता है, आदि जिनके बारे में फिर कभी बात करेंगे।

भोलेश्वर दुबे : के. पी. कॉलेज, देवास में बनस्पति विज्ञान पढ़ाते हैं।
स्निग्धा मित्रा : एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम से संबद्ध।

सवालीराम से पूछा सवाल. . .

सवालः माचिस की डिब्बियों से बने फोन में आवाज़ धागे के द्वारा कैसे एक डिब्बी से दूसरी डिब्बी तक पहुंचती है?

राजेश कुमार सोनी, सराफा बाज़ार,
आठवीं लाईन, मशीन वाले,
इटारसी, मध्य प्रदेश ने

सोचिए, बनाइए और गौर कीजिए अपने अवलोकनों पर – साथ में एक संकेत भी – कि अगर कोई तीसरा व्यक्ति बीच से धागे को छू ले या पकड़ ले तो आवाज़ नहीं आती है। अपने जवाब इस पते पर भेजें –संदर्भ, द्वारा एकलव्य, कोठी बाज़ार, होशंगाबाद - 461 001.

नौसादर, पानी और घुलनशीलता

शशि सक्सेना

"...आयनिक यौगिक में आयन बहुत ही व्यवस्थित रूप से जमे होते हैं। जब लवण को घोला जाता है तो वह जमावट खत्म हो जाती है और उसका स्थान ले लेती है बेतरतीबी..."

एक परखनली में थोड़ा-सा पानी लेकर उसमें चुटकी भर नौसादर (अमोनियम क्लोराइड) डालिए; थोड़ा-सा हिलाइए ताकि नौसादर पानी में घुल जाए। परखनली को बाहर से छूने पर अब वह आपको ठंडी-ठंडी महसूस होगी।

क्यों होता है ऐसा? इसे समझने के लिए हमें पहले ठोस अवस्था में लवणों की संरचना और उनके घुलने की प्रक्रिया को समझना होगा। एक्स-रे और अन्य कई तरीकों की मदद से बहुत से लवणों की संरचना का पता लगाया जा चुका है। इस खोजबीन से पता चलता है कि इनमें आवेशित कण (परमाणु या परमाणुओं के समूह) एक विशेष तरह से जमे होते हैं, जिसे क्रिस्टल लैटिस कहा जाता है। इन आवेशित कणों को आयन कहते हैं और इसलिए इन यौगिकों को आयनिक यौगिक या लवण कहते हैं। प्रत्येक लवण में इसी तरह आयनों की त्रिआयामी, समरूप पुनरावृत्ति-पूर्ण जमावट होती है।

विभिन्न लवणों में आयनों की जमावट फर्क होती है जो उनके आकार और आवेश पर निर्भर करती है। यही विशेष जमावट किसी भी लवण की अपनी विशेषता होती है।

नमक, यानी सोडियम क्लोराइड (NaCl) को ही देखें। ठोस अवस्था के नमक में Na^+ और Cl^- के आयन एक घनाकार लैटिस में जमे होते हैं।

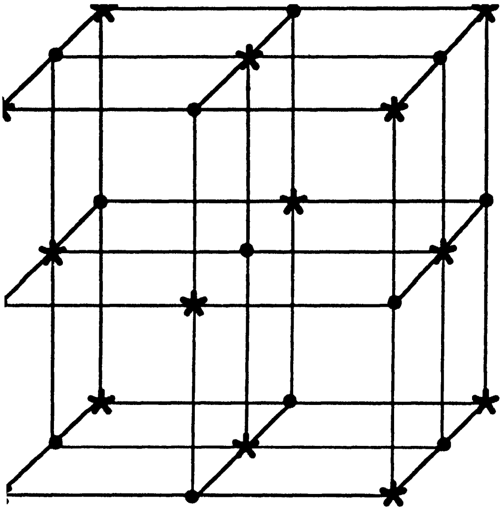

चित्र-1

चित्र-1 में '★' निशान सोडियम आयन को प्रदर्शित करता है और '●' निशान क्लोराइड आयन को। अगर तीनों आयाम में फैली इस घनाकार आकृति को बहुत बार दोहराया जाए तो जो आकृति बनेगी वो सोडियम क्लोराइड के एक छोटे से क्रिस्टल की होगी।

प्रत्येक आयनिक ठोस पदार्थ में धनायन चारों तरफ से ऋणायनों से घिरा रहता है – और इसी तरह प्रत्येक ऋणायन सब तरफ से धनायनों से। ये सब आयन एक दूसरे के सापेक्ष अपनी विशेष जगह पर जमे रहते हैं। इन ऋणायनों और धनायनों के बीच मौजूद प्रबल विद्युतीय आकर्षण के कारण ही लवणों में आयन एक दूसरे से जुड़े रहते हैं और लैटिस बना लेते हैं। दूसरे शब्दों में अलग-थलग पड़े ऋण और धन आयन एक दूसरे से आकर्षित होकर आयनिक ठोस बनाते हैं।

लैटिस ऊर्जा

इस लैटिस के बनने में ऊर्जा पैदा होती है। इसे उस यौगिक की लैटिस ऊर्जा कहा जाता है।

$(A^{x+})_n + (B^{y-})_m \rightarrow (AB)_{nm}$ + लैटिस ऊर्जा

यहां पर

(A^{x+}) धनायन है जिस पर (x^+) आवेश है।
(B^{y-}) ऋणायन है जिस पर (Y^-) आवेश है।
(n) और (m) बराबर हों यह ज़रूरी नहीं है।
x और y बराबर हों यह ज़रूरी नहीं है।

इस तरह से देखने पर यह शायद एक कठिन-सा सूत्र नज़र आए – परन्तु एक उदाहरण लेने से बात अपने आप ही स्पष्ट हो जाएगी।

जैसे नमक में,

$Na^+ + Cl^- \rightarrow NaCl$

$x = 1 \quad y = 1 \quad m = 1 \quad n = 1$

कोई भी पदार्थ कम ऊर्जा वाली अवस्था

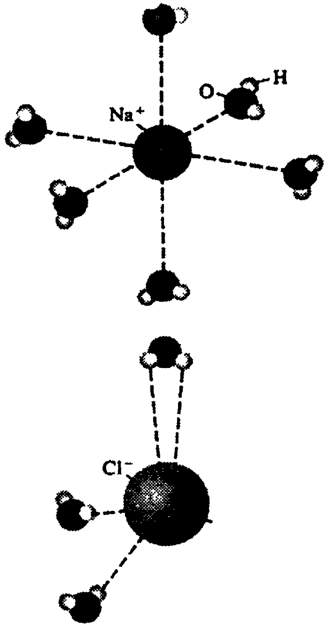

चित्र:2: आयनों का हाइड्रेशन: घोल में पानी के ध्रुवीय अणु आयनों की ओर आकर्षित होते हैं। पानी का धनात्मक सिरा ऋणायनों की ओर और ऋणात्मक सिरा धन आयनों की ओर आकर्षित हो जाता है।

में अधिक स्थिर होता है। इसका मतलब है कि अलग-अलग रहने की तुलना में जब आयन आपस में जुड़े हों तो ज़्यादा स्थिर अवस्था में होते हैं।

आयनों को अलग-अलग करना

दूसरी तरह से देखें तो इसका अर्थ यह हुआ कि किसी आयनिक यौगिक या लवण के आयनों को अलग-अलग करना हो तो ऊर्जा की ज़रूरत होती है। इसका एक तरीका है कि लवण को गर्म किया जाए, जब तक कि उसका वाष्पन न हो जाए। लवण में से अपनों को अलग-थलग करने का एक और तरीका भी है कि उसे पानी जैसे घोलक में घोल दिया जाए।

जब भी किसी लवण को पानी में डाला जाता है तो उसका कुछ हिस्सा पानी में घुल जाता है। इस दौरान दो परिवर्तन होते हैं –

1. क्रिस्टल लैटिस में से आयन अलग-अलग हो जाते हैं।
2. प्रत्येक आयन घोलक (यहां पानी) के अणुओं से घिर जाता है। इस प्रक्रिया को हाइड्रेशन कहते हैं।

इसका अर्थ हुआ कि घोल में धनायन और ऋणायन घोलक के अणुओं से घिरे रहते हैं (चित्र-2)। वे अब सिर्फ इसलिए अलग-अलग रह पा रहे हैं क्योंकि उन्हें पानी के अणुओं ने स्थिरता प्रदान की है।

लवण का घोल बनाने के लिए ऊपर जिन दो चरणों का ज़िक्र किया था उनमें से पहले के दौरान ऊर्जा की ज़रूरत होती है क्योंकि एक बनी हुई व्यवस्था को बिगाड़ा जा रहा है। इस काम के लिए ज़रूरी ऊर्जा लैटिस ऊर्जा के बराबर होगी।

दूसरे चरण में ऊर्जा छोड़ी जाएगी क्योंकि एक नई व्यवस्था निर्मित हो रही है। इस चरण के दौरान पैदा ऊर्जा

को हाइड्रेशन ऊर्जा कहा जाता है। पूरी प्रक्रिया को एक साथ देखने पर:

घुलने के दौरान ऊर्जा में कुल बदलाव = लैटिस ऊर्जा + हाइड्रेशन ऊर्जा

कुछ लवणों में लैटिस ऊर्जा, हाइड्रेशन ऊर्जा से कम होती है। इसलिए जब लवण पानी में घुलता है तो लैटिस को तोड़ने के लिए कुछ ऊर्जा खर्च होती है परन्तु आयनों और पानी के अणुओं की परस्पर क्रिया की वजह से उससे ज़्यादा ऊर्जा पैदा होती है। ऐसी स्थिति में घुलने की प्रक्रिया के दौरान गर्मी के रूप में ऊर्जा छोड़ी जाती है – इसलिए घोल का तापमान घोलक (पानी) के तापमान से ज़्यादा होता है। इस तरह के बदलाव को ऊष्माक्षेपी बदलाव कहा जाता है।

कुछ अन्य स्थितियों में लैटिस ऊर्जा हाइड्रेशन ऊर्जा से ज़्यादा होती है – इसलिए घुलने की प्रक्रिया के दौरान ऊर्जा इस्तेमाल होती है। ऐसे में लवण के पानी में घुलने पर घोल·पानी से ठंडा होता है। नौसादर (अमोनियम क्लोराइड) एक ऐसा ही लवण है। ऐसी प्रक्रियाओं को ऊष्माशोषी क्रिया कहा जाता है।

हम कह सकते हैं कि अमोनियम क्लोराइड की लैटिस रचना अत्यन्त मज़बूत होती है, इसे अगर घोलकर तोड़ना है तो बहुत सारी ऊर्जा की ज़रूरत होती है। इस ज़रूरत को कुछ हद तक तो हाइड्रेशन ऊर्जा पूरा करती है – वह ऊर्जा जो आयनों और पानी के अणुओं के बीच बन रही नई व्यवस्था.के दौरान पैदा हो रही है। शेष ज़रूरत घोलक यानी पानी से पूरी की जाती है जिससे पानी ठंडा हो जाता है।

घुलनशीलता

इस सबके आधार पर हम यह समझने की कोशिश भी कर सकते हैं कि एक ही घोलक में विभिन्न लवणों की घुलनशीलता अलग-अलग क्यों होती है।

यह स्पष्ट है कि हाइड्रेशन ऊर्जा घुलने की प्रक्रिया में सहायक होती है। परन्तु क्या इसका अर्थ है कि अगर हाइड्रेशन ऊर्जा ज़्यादा है तो पदार्थ ज़्यादा घुलनशील होगा? लेकिन नीचे दी गई तालिका देखें तो समझ में आता है कि ऐसा नहीं है।

लवण	हाइड्रेशन ऊर्जा (किलो जूल / मोल)	घुलनशील
$Cacl_2$	–2180 (ज़्यादा)	अत्यंत घुलनशील
KI	–611 (कम)	अत्यंत घुलनशील
CaF_2	–8782 (ज़्यादा)	अघुलनशील
LiF	–1004 (कम)	अघुलनशील

तालिका से हाइड्रेशन ऊर्जा और घुलनशीलता में कोई संबंध नज़र नहीं आ रहा। ऐसा इसलिए है क्योंकि घुलनशीलता लैटिस ऊर्जा पर निर्भर करती है।

इसलिए अगर किसी लवण की हाइड्रेशन ऊर्जा ज़्यादा है, परन्तु उसकी लैटिस ऊर्जा भी काफी है तो वह लवण अघुलनशील होगा। इसी तरह कम हाइड्रेशन ऊर्जा वाला लवण भी घुलनशील होगा अगर उसकी लैटिस ऊर्जा कम है। लैटिस ऊर्जा और हाइड्रेशन ऊर्जा, आयनों के आकार व आवेश पर निर्भर करती है।

पुराना सवाल और घुलनशीर

वापस लौट जाते हैं अपने शुरूआती सवाल पर। अब हमें मालूम है कि नौसादर को पानी में घोलने पर ऊर्जा इस्तेमाल होती है इसलिए घोल का तापमान कम हो जाता है और वह हमें पानी की तुलना में ठंडा लगता है। पर फिर सवाल उठता है कि ऐसे लवण पानी में घुलते ही क्यों हैं?

ऐसी स्थितियों में एक और कारक महत्वपूर्ण बन जाता है और घुलनशीलता पर असर डालता है – यह है 'अव्यवस्था का प्रवेश'। हमें मालूम है कि सब प्राकृतिक बदलाव उसी दिशा में होते हैं जिस दिशा में अव्यवस्था (disorder) बढ़ रही है।

उदाहरण के लिए नीचे दिए गए चित्र-3 में स्वाभाविक रूप से बदलाव बाईं ओर से दाईं ओर होगा, उसकी विपरीत दिशा में नहीं। इसे ऐसे भी समझाया जा सकता है कि अगर कुछ कंचे व बीज गिर कर बिखर जाएं तो वे दाईं ओर जैसी कोई अनियमित व्यवस्था बनाएंगे न कि बाईं ओर जैसी नियमित व्यवस्था।

जब एक ठोस आयनिक यौगिक को घोला जाता है, तो जहां तक व्यवस्था या अव्यवस्था का सवाल है, दो बदलाव होते हैं। आयनिक यौगिक में आयन बहुत ही व्यवस्थित रूप से जमे होते हैं। जब लवण को घोला जाता है तो वह जमावट खत्म हो जाती है और उसका स्थान ले लेती है बेतरतीबी (disorder)। दूसरी ओर प्रत्येक आयन घोलक के अणुओं से घिर जाता है यानी घोल में एक नई व्यवस्था पैदा हो जाती है। कोई पदार्थ

चित्र:3 :– प्राकृतिक बदलाव की दिशा

तभी घुलेगा जबकि दोनों परिवर्तनों के फलस्वरूप अव्यवस्था बढ़ रही हो। कुछ लवणों में पहला प्रभाव ज़्यादा वज़नदार होता है जिससे घुलनशीलता बढ़ जाती है। (यह उन लवणों में ज़्यादा प्रभावशाली होता है जिनमें आयन बड़े हों और उन पर आवेश कम हो)। कुछ अन्य लवणों में दूसरा प्रभाव ज़्यादा होता है (जिनमें आयन छोटे आकार के परन्तु अधिक आवेश वाले हों)।

नौसादर ऐसा लवण है जो पहले दर्जे में आता है। उसके घोल में अव्यवस्था बढ़ना ही वह प्रमुख कारक है जिससे घोलक आयनों को अलग कर पाता है। यहां पर यह भी गौरतलब है कि न सिर्फ पहला कारक ज़्यादा प्रभावशाली है, बल्कि पहले व दूसरे प्रभावों के बीच का अंतर लगभग उतना ही है जितना अंतर लैटिस ऊर्जा और हाइड्रेशन ऊर्जा में है। अन्यथा लवण पानी में घुलनशील नहीं होता। यानी नौसादर के पानी में घुलने पर कुल मिलाकर अव्यवस्था बढ़ती है, और यह बढ़ी हुई अव्यवस्था लैटिस को तोड़ने में सहायक होती है। इसलिए लैटिस ऊर्जा के हाइड्रेशन ऊर्जा से ज़्यादा होने पर भी पदार्थ घुलनशील है।

संक्षेप में देखा जाए तो लवण को घोलक में मिलाने पर चार प्रभावों पर ध्यान देना होगा:

1. धनात्मक ऊर्जा जो लैटिस तोड़ने के लिए ज़रूरी है। (लैटिस ऊर्जा)
2. ऋणात्मक ऊर्जा जो आयनों के घोलक के अणुओं द्वारा घिर जाने से छोड़ी जाती है (हाइड्रेशन-ऊर्जा)।
3. आयनों के एक दूसरे से दूर हटने से जो अव्यवस्था पैदा होती है।
4. घोलक में आयनों की एक नई जमावट बनाने से जो व्यवस्था बनती है।

घुलनशीलता पर इन चारों प्रभावों का असर कुछ ऐसा होता है:

- *प्रभाव 2* और *3* लवण के पानी में घुलने में सहायक होते हैं।
- *प्रभाव 1* और *4* लवण के पानी में घुलने में असहायक होते हैं।
- अगर *प्रभाव 1 प्रभाव 2* से ज़्यादा है, तो लवण तभी घुलनशील होगा जब *प्रभाव 3 प्रभाव 4* से काफी ज़्यादा हो और ऐसा घोल घोलक से ठंडा होगा।
- अगर *प्रभाव 2 प्रभाव 1* से ज़्यादा है तो लवण घुलते वक्त ऊर्जा छोड़ेगा। यानी कि घोल गर्म हो जाएगा।

आखिरी वाली स्थिति में एक संभावना यह भी है कि लवण एकदम अघुलनशील बना रहे – अब आपको सोचना है कि किन स्थितियों में ऐसा संभव है।

शशि सक्सेना: दीनदयाल उपाध्याय कॉलेज, नई दिल्ली में रसायनशास्त्र की व्याख्याता।

कुछ यादें

वह जादुई स्कूल

सभी चित्र वी एम भोंडे

अभय बंग

अनुवाद: अरविंद गुप्ता

बरसों पहले सेवाग्राम आश्रम के विद्यालय में पढ़ाई के लिए अपनाए गए तरीके नायाब थे। तरीके तो आज भी प्रासंगिक हैं लेकिन वैसे स्कूल अब नहीं रहे।

आपने अक्सर बड़े-बूढ़ों के मुंह से यह बात ज़रूर सुनी होगी कि "मेरे बचपन की तो बात ही कुछ निराली, अब वह बात कहां बची है?" ऐसे ही मैं भी बचपन में एक अनूठे स्कूल में पढ़ा करता था लेकिन वैसी शिक्षा मैं आज अपने बेटे आनंद को नहीं दे सकता। यह मेरी ज़िंदगी का सबसे बड़ा दुःख है। आखिर मेरे स्कूल में ऐसी क्या खास बात थी?

नवीं तक की मेरी पढ़ाई गांधीजी की नई-तालीम पद्धति के अनुसार हुई। उसमें से पूरे चार साल तो मैंने सेवाग्राम आश्रम के नई-तालीम विद्यालय में बिताए। शिक्षा का मतलब यह नहीं कि हम प्रकृति को छोड़कर,

कक्षा की चारदीवारों के बीच कैद होकर, किसी उबाऊ पाठ्यक्रम को रटें। इसके विपरीत, गांधीजी की नई-तालीम का तो यह मानना था कि प्रकृति के करीब रहकर और समाज उपयोगी काम करके ही बुद्धि का विकास होगा और इनके द्वारा बच्चे अनेक कुशलताएं हासिल करेंगे। इस पद्धति के विकास के लिए गांधीजी के आग्रह पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने शान्तिनिकेतन से श्री आर्यनायकम् और श्रीमती आशादेवी की सिंहली-बंगाली जोड़ी को सेवाग्राम भेजा था। इसी वजह से गांधीजी की शिक्षण-पद्धति को रवीन्द्रनाथ का प्रकृति और कला-प्रेम मिल पाया। स्कूल की शुरुआत से ही मेरे माता-पिता इस प्रयोग में शामिल थे। इस स्कूल में पढ़ाई के तरीके एकदम नायाब थे। उन तरीकों के कुछ उदाहरण मैं यहां पेश कर रहा हूं।

वन्य-जीवों से परिचय

आज तो सभी जगह जंगली-जीवों के संरक्षण की बात होती है। परन्तु 27 वर्ष पहले यह विषय इस हद तक चर्चित नहीं था। तब हमारे मराठी के शिक्षक 'पाटिल गुरुजी', अपनी क्लास कटहल के पेड़ की डाल पर बैठकर चलाते थे। वे हमें जंगलों की कहानियां और अपने शिकार-वर्णन सुनाते थे। एक बार गलती से उन्होंने एक गर्भवती हिरणी पर गोली चला दी। उस मासूम प्राणी की आंखों का दर्द देखकर वे सहम गए। इस घटना के बाद उन्होंने बंदूक को हमेशा के लिए त्याग दिया और कैमरे से जानवरों के चित्र खींचने लगे। उन्होंने रात-रात भर मचान पर बैठकर वन्य-जीवों के अनूठे चित्र खींचे। उनकी रोचक कहानियों में जानवरों के प्रति प्रेम साफ झलकता था। उनकी कहानियों को सुनकर हमें ऐसा लगता था जैसे मानों हम खुद ही जंगल की सैर कर रहे हों। वे शब्दों के शिल्पी थे। शब्दों से ही वे जंगल की तस्वीर खींच देते थे। जंगल के प्रति मेरा प्रेम और जानकारी इन्हीं कहानियों से बढ़ी। आजकल की किताबों में मराठी भाषा का पाठ प्रायः इन शब्दों से शुरू होता है 'प्राणी के मतलब होते हैं पशु'। भला ऐसे नीरस और उबाऊ तरीके क्या कभी बच्चों को प्रेरित कर पाएंगे? महाराष्ट्र का गढ़चिरौली ज़िला आज भी जंगलों से भरा है। पर वहां भी स्कूली-शिक्षा का वास्तविक जंगलों से दूर-दूर तक कोई सरोकार नहीं है।

संतों का मेला

संत तुकाराम के अभंग (पद) भी हमें कड़वी दवा की तरह नहीं पीने पड़े। आषाढ़ की एकादशी को हमारे स्कूल में हर वर्ष संतों का एक मेला लगा करता था। इसमें अलग-अलग संतों की टोलियां और कीर्तन-मंडलियां आती थीं। संतों के जीवन-प्रसंगों पर

झांकिया सजती थीं, नाटक खल जाते थे, चित्र बनाए जाते थे और लेख-निबंध लिखे जाते थे। यह सब काम स्कूल के सभी बच्चे मिलकर करते थे। पूरे पंद्रह दिनों तक स्कूल में एक मेले जैसा माहौल बना रहता था। तुकाराम के एक अभंग 'जे का रंजले गांजले' को मैंने वहां तीन अलग-अलग प्रकार से गाना सीखा। वहां की गीत-मंडली में मैंने पहली बार 'राग-भैरवी' भी गाना सीखा। संतों की वाणी, उनका इतिहास, उनका जीवन-दर्शन आदि हमने सहज प्रकार से खेल-खेल में सीखा। फर्क सिर्फ इतना था कि वहां सीखने में भाषा, इतिहास, संगीत और दर्शन आदि के लेबिल नहीं चिपके थे।

कई सालों बाद जब मैं एक सरकारी स्कूल में गया तो वहां मुझे 'काव्य-कुसुमांजली' नाम की एक भारी-भरकम पाठ्य-पुस्तक में संत तुकाराम का 'जे का रंजले गांजले' अभंग दिखाई पड़ा। उसे देख शायद तुकाराम स्वयं दुखी होते।

ऐसे सीखा वनस्पति शास्त्र

बहुत से स्कूलों में वनस्पति शास्त्र के विषय को किताबों में छपे चित्रों या फिर कांच की बोतलों में कैद 'स्पेसिमेन' नमूनों के ज़रिए पढ़ाया जाता है। पौधों की अलग-अलग प्रजातियों के जबड़ातोड़ तकनीकी नामों को बच्चे बड़ी कठिनाई से रटते हैं और इम्तिहान के तुरन्त बाद भूलने भी लगते हैं।

हमारी नई-तालीम के स्कूल के आसपास के बगीचों और खेतों में नाना प्रकार के पेड़-पौधे थे। सबसे अच्छी बात तो यह कि हमारे शिक्षक सब बच्चों को साथ लेकर इन बाग-बगीचों में घूमते, वहां पौधों का निरीक्षण-परीक्षण होता था। जो भी पेड़-पौधे दिखते, सबसे पहले उनके नाम से परिचय करवाया जाता था। फिर उनके पत्तों, फूलों और फलों का बारीकी से मुआयना किया जाता था। उसके बाद बेर, आंवले, करौंदे आदि फलों को तोड़कर खाने की बारी आती थी। (कक्षा में इस प्रकार चीज़ों को चखकर सीखने का दूसरा अनुभव मुझे अमरीका में हुआ परन्तु वहां क्लास में बैठकर चॉकलेट खाने और कोका-कोला पीने की परम्परा दिखाई दी।) फल खाते-खाते हम बेर और आम के फलों की समानताओं पर चर्चा करते और 'ड्रूप' नाम के फल को देखकर उसकी विशेषताओं को नोट करते। इस प्रकार बाग-बगीचों का भ्रमण करके और प्रकृति का समीप से दर्शन करके हम वनस्पति शास्त्र को काफी गहराई और बारीकी से समझ पाए। वनस्पति-शास्त्र की किताबों में जिन सिद्धांतो का वर्णन होता है वे हमारे चारों ओर सुखद हरियाली के रूप में बिखरे पड़े होते थे। उन्हें प्रत्यक्ष देखने की और जांच-परख करने की प्रेरणा हमें हमारे शिक्षक दे सके। इसी वजह से 'पामेट डायवर्जेंट रेटिक्यूलेट' जैसे भारी-भरकम शब्द मुझे अटपटे नहीं लगते। इसका कारण सरल था। मेरे एकदम पास, आंखों के सामने, पपीते के पेड़ का पत्ता जो था।

सातवीं की परीक्षा के लिए हमारे गुरुजी ने हमसे अलग-अलग पत्तों और फूलों का एक वैज्ञानिक एल्बम बनाने को कहा। हमने इसके लिए अपने पास-पड़ोस का पूरा इलाका छान मारा। आज इतने साल बीतने के बाद भी, सेवाग्राम के परिसर में कहां-कहां 'पामेट डायवर्जेंट रेटिक्यूलेट' आकार के पत्तों के पेड़ लगे हैं, इसे मैं अच्छी तरह जानता हूं। ऐसा लगता है जैसे ये पेड़ अभी भी मेरी आंखों के सामने खड़े हों। इसका परिणाम यह हुआ कि बाद में कॉलेज के दिनों में मुझे वनस्पति शास्त्र सीखने में कोई खास मेहनत नहीं करनी पड़ी। इस विषय में मैं पूरे कॉलेज में प्रथम आया। जब मेरे कॉलेज

के प्रोफेसर मेरी प्रशंसा करने लगे तो मैंने अपने मन में यह बात कही – "सर, मैंने वनस्पति शास्त्र कॉलेज में नहीं सीखा। उसे तो मैंने अपने सेवाग्राम के स्कूल में सीखा था।"

जीवन से जुड़ा गणित

'एक पानी की टंकी में दो टोटियां लगी हैं। एक टोटी से टंकी में पानी भरता है और दूसरे से खाली होता है। अब यह बताओ कि टंकी कितनी देर में भरेगी?' इस प्रकार के बेसिर-पैर सवाल ही अक्सर गणित की स्कूली किताबों में भरे होते हैं। अब सवाल यह उठता है कि गणित और असली जीवन के बीच में कोई संबंध है या नहीं? कोई भी होशियार इंसान इस सवाल को हल करने के लिए नीचे वाली टोटी को बंद कर देगा और इस प्रश्न से अपना पिंड छुड़ाएगा। नई-तालीम विद्यालय में मैंने आयतन की अवधारणा और गणित किस प्रकार सीखी इसका एक उदाहरण देता हूं। हर रोज़ हम लोगों के लिए तीन घंटे कोई उत्पादक कार्य करना अनिवार्य था। यहां की शिक्षा का यह एक अभिन्न अंग था। इसके पीछे गांधीजी की 'ब्रेड लेबर' यानी खुद श्रम करके खाना जुटाने की अवधारणा तो थी ही, साथ में समाज उपयोगी कार्य द्वारा कुशलताएं हासिल करने की विनोबा की दृष्टि भी थी। इसके तहत मैं कुछ दिनों तक गोशाला में काम करने जाने लगा। नई गोशाला का निर्माण काम चालू था। मेरे शिक्षक ने मुझे एक समस्या का समाधान खोजने की ज़िम्मेदारी सौंपी थी। "यह मालूम करो कि एक गाय रोज़ाना कितना पानी पीती है। इस प्रकार गोशाला की सभी गायों की प्रतिदिन पानी की आवश्यकता कितनी होगी। फिर एक ऐसी टंकी का निर्माण करो जिसमें उतना पानी आ सके। टंकी में कितनी ईंटें लगेंगी इसका हिसाब करके उन्हें खरीदकर लाओ।" गणित की इस समस्या से मैं लगभग एक हफ्ते जूझता रहा। अलग-अलग टंकियों का आयतन कैसे नापें? बाल्टी का आकार एक तिरछे बेलन जैसा होता है, उसे कैसे नापें? टंकी का आयतन और उसका बाहरी क्षेत्रफल कैसे नापें? इस पद्धति से मैंने प्रत्यक्ष टंकी बनाकर गणित सीखी।

रसोई घर भी प्रयोगशाला

काम के ज़रिए विज्ञान-शिक्षण का मैं यहां एक और उदाहरण दे रहा हूं। सभी छात्रों को बारी-बारी से खाना बनाने की ज़िम्मेदारी सौंपी जाती थी। स्कूल के रसोई घर में रोज़ाना लगभग सौ लोग खाना खाते थे। खाना पकाने का ज़िम्मा बारी-बारी से आठ छात्रों की एक टोली को सौंपा जाता था। भोजन पर प्रति माह कितना खर्चा होना चाहिए इसका बजट टोली को

पहले ही बता दिया जाता था। आहार शास्त्र की दृष्टि से भोजन संतुलित हो, खाना सब को पसन्द आए और उस पर किया गया खर्चा बजट के अन्दर हो। इस सबकी योजना बनाते-बनाते हमारे छक्के छूट जाते। आलू की सब्ज़ी सबसे सस्ती अवश्य थी परन्तु उसमें पौष्टिक तत्व के रूप में मुख्यत: स्टार्च था, इसलिए उसे नकारना पड़ा। आई. सी. एम. आर. (इंडियन काउंसिल फॉर मेडिकल रिसर्च) द्वारा सुझाई गई न्यूनतम तेल की मात्रा के इस्तेमाल से तो सारा बजट केवल तेल पर ही खर्च हो जाता। एक कुशल गृहणी के अनुभव से तो हम वंचित थे ही। हर आहार शास्त्र और अर्थशास्त्र से जूझते, मशक्कत करते हुए कोई हल खोजने की चेष्टा करते। बहुत बार भोजन की बनाई हमारी योजना बहुत कागज़ी होती थी। वास्तव में उसे बनाना संभव ही न होता। दाल को गलने में कितना समय लगेगा, इस हिसाब में भी हम अक्सर मात खाते थे। फिर रात को खाने के सारे बर्तन घिसते-मांजते हुए हम अपने आपको एक घायल सैनिक जैसा महसूस करते थे। अगले दिन खाना पकाने की समस्या सामने 'मुंह बाए' खड़ी रहती थी।

लेकिन इस पूरी प्रक्रिया के दौरान हम तीन चीज़ें अच्छी तरह सीख गए। वे थीं – आहार शास्त्र, घर का अर्थ शास्त्र और पाक-शास्त्र यानी खाना बनाना। धनिए के हरे पत्तों में 10,600 यूनिट विटामिन 'ए' की मात्रा होती है, यह मुझे आज भी अच्छी तरह याद है। जो चीज़ें मैंने चंद दिनों में रसोई घर में काम करके सीखीं, वे सब मैं दस सालों में मेडिकल कॉलेज में नहीं सीख पाया।

खेती के प्रयोग

हम सभी छात्रों को खेती के लिए ज़मीन का एक-एक छोटा टुकड़ा दिया गया था। उसकी जुताई, बुआई, सिंचाई और खाद डालने आदि की सारी ज़िम्मेदारी हमारी थी। सिंचाई के लिए कुंए से पानी निकालने के लिए हम बच्चों की लम्बी लाईन लग जाती थी। इसलिए कई बार तो रात को ही नम्बर आ पाता था। आधी रात को सियारों की हुआं-हुआं से अक्सर बच्चों का दिल कांप उठता था, फिर भी वे हिम्मत बटोरकर अपने खेतों में पानी सींचने जाते थे। खेती करते-करते हमने फसल विज्ञान (एग्रोनॉमी) और फलों की खेती का भी ज्ञान हासिल किया। खाद डालते समय उसके रासायनिक तत्वों को जानना ज़रूरी होता था और इसलिए हमें कई बार अनुभवी किसानों के पास जाकर उनसे बातचीत करनी पड़ती थी। इन अनुभवी किसानों में जापान से धान की उन्नत खेती सीखकर आए मुक्तेश्वर भाई और अंगूरों की खेती का पहला प्रयोग करने

वाले प्रेमभाई शामिल थे। हमारे पास में ही इज़राइल में बहुत साल खेती सीखकर आए श्री हलेवी का खेत था। वे बैलों की जगह घोड़ों की मदद से खेत की जुताई करते थे। बीच-बीच में हमें अण्णा साहेब सहस्त्रबुद्धे खेती से संबंधित अर्थशास्त्र के नए-नए प्रयोग सुझाते थे। ऐसे माहौल में हमने खेती करते हुए क्या-क्या नहीं सीखा?

किसके खेत में अधिक पैदावार होगी इस बात को लेकर छात्रों में होड़ लगी रहती थी। पैदावार बढ़ाने की चेष्टा में हम खेत में खूब खाद यानी बाल्टी भर-भर कर गोमूत्र डालते थे। इस प्रकार गोमूत्र डाल-डाल कर मैंने पौने दो किलो का एक बैंगन उगाया! जब उस बैंगन को मैं वर्धा के बाज़ार में बेचने गया तो उसे रोगी समझकर किसी ने खरीदा ही नहीं!

जीवंत शिक्षा

नई-तालीम पद्धति पर अक्सर एक आरोप लगाया जाता है। स्कूल में छात्र शारीरिक श्रम में जितना समय व्यय करते हैं वह उनके ज्ञानार्जन के मार्ग में बाधक बनता है। मद्रास प्रान्त में जब बेसिक एज्यूकेशन शुरू हुआ तब लोगों ने आरोप लगाया "शारीरिक श्रम के कारण हमारे बच्चों की पढ़ाई पीछे छूट रही है।" इस आरोप के कारण वहां के तत्कालीन मुख्यमंत्री राजाजी को इस्तीफा देना पड़ा। परन्तु असलियत क्या है? बच्चों के दिमाग में तमाम अचरा-कचरा जानकारी

भरना और उसे परीक्षा में उगल देने को जो लोग 'सही शिक्षा' मानते हैं, उन्हें अवश्य यह आरोप सही लगा होगा। अगर बच्चा गंधक के अम्ल को बनाने की चार अलग-अलग विधियां नहीं बता सकता है तो उसका ज्ञान कच्चा है, ऐसा इस गुट का मानना है। नवीं कक्षा के विद्यार्थी को इस जानकारी से क्या लाभ होगा, शायद इससे उन्हें कुछ लेना-देना नहीं है। पर जीवन से संबंधित हर ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में नई-तालीम के छात्र कहीं अधिक कुशल पाए गए। परन्तु इतिहास, भूगोल, राजनीति शास्त्र और सामान्य-ज्ञान जैसे विषयों में उनकी क्या स्थिति थी?

भूगोल जैसा विषय मैंने अपने जादू भरे स्कूल में औपचारिक रूप में कभी नहीं सीखा। सेवाग्राम में देश-विदेश के बहुत से लोग आते थे। उनसे अलग-अलग देशों और प्रान्तों के बारे में सुनकर मैंने बहुत कुछ सीखा। मुझे विभिन्न देशों के डाक-टिकट इकट्ठे करने का बहुत शौक था। इससे मुझे दुनिया के विभिन्न देशों के बारे में काफी जानकारी भी मिलती थी। बहुत-सी यात्राओं के वर्णन और देश-विदेश की कहानियां पढ़कर मुझे उन देशों की पृष्ठभूमि का अच्छा अनुमान हो गया था। इस प्रकार मैंने भूगोल सीखा। जब मैं नवीं कक्षा में था उस समय मैंने शरतचंद्र की 'पथेर दावी' और

झवेरचंद्र मेघाणी द्वारा लिखित 'प्रभु पधारे' उपन्यास पढ़े थे। इससे मेरा बर्मा देश से अच्छा परिचय हुआ। इन दोनों पुस्तकों से मिली प्रेरणा ही एक दिन मुझे बर्मा खींचकर ले जाने का कारण बनी। मेरे लिए भूगोल एक बोझिल विषय न होकर एक ज़िन्दा विषय था।

राजनीति और सामान्य ज्ञान पढ़ाने के लिए भी हमारे शिक्षकों ने एक अलग ही रास्ता अपनाया था। हर रोज़ शाम को वे हमें अखबार में से खास-खास खबरें और रोचक जानकारियां पढ़ते-पढ़वाते थे। बाद में वे हमें उन घटनाओं का इतिहास और उनके पीछे छिपी राजनीति समझाते थे। रूस द्वारा क्यूबा को भेजे गए आण्विक शस्त्र और उन्हें रोकने के लिए अमरीका द्वारा की गई कार्यवाही उस समय की एक प्रमुख खबर थी। हमारे शिक्षक ने बताया किस तरह दूसरे महायुद्ध के बाद दुनिया दो खेमों, पूंजीवादी और साम्यवादी गुटों में बंट गई। हमारे शिक्षक रूस और अमरीका के बीच पारस्परिक दुश्मनी का कारण भी हमें समझाते, और क्यूबा की क्रांति का महत्व भी बताते। स्विट्ज़रलैंड के लोग खुद अपने देश को 'हेल्वेटिया' क्यों कहते हैं, यह प्रश्न डाक टिकट इकट्ठा करते हुए मेरे सामने आया। इस सवाल का उत्तर ढूंढने के लिए हमने बहुत-सी किताबें पढ़ीं और इस प्रकार हमारा उस देश के इतिहास से भली-भांति परिचय हो गया।

पढ़ाई का नया तरीका

गांधीजी की शिक्षा की अवधारणा और रवीन्द्रनाथ के कला प्रेम को मूर्त रूप देने के लिए हमारे स्कूल में अनेक सृजनशील प्रयोग किए गए। इनके कई उदाहरण दिए जा सकते हैं। इम्तहान में आए प्रश्नों के अतिरिक्त भी हमारी अन्य कई परीक्षाएं ली जाती थीं– जैसे खाना पकाना, नाटक लिखने से खेलने तक, भरी सभा में भाषणं देना, लेख लिखना आदि। सबसे अनूठा प्रयोग तो यह था कि कक्षा की कल्पना को बहुत लचीला बना दिया गया था। सभी छात्र कुछ विषयों में अधिक तेज़ होते हैं और कुछ में थोड़े कमज़ोर। उन्हें हर विषय के लिए एक ही कक्षा में बैठना ज़रूरी नहीं था। अपनी क्षमता और स्तर के अनुसार बच्चे किसी एक विषय को सीखने के लिए अलग-अलग कक्षाओं में बैठ सकते थे। इसका मतलब यह था कि मैंने एक साल में सातवीं की अंग्रेज़ी, नवीं की गणित और दसवीं की मराठी सीखी। अच्छे सामाजिक मूल्यों का निर्माण इस शिक्षा का एक अभिन्न अंग था। श्रम के प्रति आदर, स्वावलंबन, समानता और सामूहिकता जैसी बातें हम स्कूल के जीवन में रोज़ ही जीते थे। इन मूल्यों के साथ-साथ देश में चल रहे समाज परिवर्तन के

आंदोलनों में भी छात्र हिस्सा लेते थे। हर साल कुछ दिनों के लिए स्कूल में ताला लगा दिया जाता था और सारे छात्र भूदान आंदोलन में भाग लेने के लिए दूर-दराज़ के गांवों में जाते थे।

o o o

आज जब मैं अपने बचपन के स्कूल के बारे में लोगों को बताता हूं तो अधिकतर लोग मुझसे पूछते हैं "क्या अभी वो स्कूल चल रहा है? हम उसमें अपने बच्चों को भेजना चाहेंगे।" अपने स्कूल की यही आखिरी बात मैं आपको बताना चाहता हूं।

गांधीजी की ग्रामोद्योग की कल्पना को सरकार का प्रोत्साहन नहीं मिला। अंत में बड़े कारखानों के साथ स्पर्धा में ग्रामोद्योग हार गए। इस स्कूल को कोई शासकीय मान्यता प्राप्त नहीं थी, इसलिए वह वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था में टिक नहीं पाया। शासकीय मान्यता के अभाव में इस स्कूल के बच्चों के भविष्य पर एक प्रश्न-चिन्ह लग गया। कुछ अन्य वजहों से भी पालकों ने अपने बच्चों को इस स्कूल में भेजना बंद कर दिया। भूदान-ग्रामदान आंदोलनों में सक्रिय बहुत से पालकों ने एक समय अपने बच्चों को इस स्कूल में दाखिल किया था परन्तु उन्होंने भी बाद में अपने बच्चों को निकाल लिया। समाज व शासन इस निराले स्कूल और उसकी अनूठी पद्धति का सही मूल्यांकन नहीं कर पाया। ऐसी परिस्थिति में परिवर्तन का कोई भी टापू बहुत अधिक देर तक टिका नहीं रह सकता है। आसपास का विरोधी वातावरण जल्द ही उसे निगल गया। बाद में ग्रामदान आंदोलन भी नहीं टिक पाया। समाज में व्याप्त स्वार्थ और प्रतिस्पर्धा की होड़ शिक्षा के इस अनोखे टापू को निगल गई। मेरी दिली तमन्ना है कि मैं अपने बेटे को शिक्षा के उस जादुई स्कूल में भेजूं। परन्तु अब वह जादूई स्कूल है कहां?

डॉ. अभय बंग: महाराष्ट्र के गढ़चिरौली में 'सर्च संस्था से जुड़ाव। आदिवासी स्वास्थ्य के क्षेत्र में काम कर रहे हैं।

अरविंद गुप्ता: स्वतंत्र लेखन; नई दिल्ली में रहते हैं।

यह लेख मराठी पत्रिका 'साम्ययोग' के अक्टूबर 1987 के अंक में प्रकाशित हुआ था।

नील्स बोहर एक मानवतावादी चेहरा

नाभिकीय ऊर्जा के रहस्यों को जानने के साथ-साथ बोहर इस खोज के सामाजिक व राजनीतिक परिणामों को लेकर परेशान थे। यकीनी तौर पर बोहर में वह दूरदृष्टि थी जिसका तत्कालीन राजनितिज्ञों में अभाव था।

कमल दत्ता

18 नवंबर 1962 के दिन महान डेनिश भौतिक शास्त्री नील्स बोहर दिवंगत हुए। वैज्ञानिकों और प्रकृति की हमारी परिकल्पना से संबंधित विचारों के विकास में दिलचस्पी रखने वाले लोगों के लिए आधुनिक ज्ञान-मीमांसा पर उनके काम से पड़े प्रभाव पर एक नज़र डालना दिलचस्प होगा।

समाज वैज्ञानिकों की रुचि शायद यह समझने में हो कि डेनमार्क जैसे देश में, जहां विज्ञान की कोई खास परंपरा नहीं थी, कैसे बोहर एक आधुनिक शोध केंद्र स्थापित कर पाए जिसने आने वाले कई दशकों तक एक प्रभावी भूमिका निभाई। जिसके प्रभाव की तुलना अक्सर अरस्तू के लाइसीयम से की जाती है।

आज हम जिस तरह के नाभिकीय विनाश के खतरे के साए में जी रहे हैं, उसमें यह सोचना दिलचस्प होगा कि बोहर ने परमाणु शस्त्रों की होड़ को रोकने की जो पुरज़ोर कोशिश की वह वैज्ञानिकों की विवशता को दर्शाती है है या राजनीतिज्ञों में दूरदर्शिता के अभाव को।

शिक्षा की परंपरा

बोहर का जन्म कोपनहेगन के एक ऐसे परिवार में हुआ था जिसमें शिक्षा की ज़बर्दस्त परंपरा थी। उनके दादा एक व्याकरण शाला में बहुत सम्मानित

प्रधान अध्यापक थे। बोहर के पिता मेडिकल कॉलेज में भर्ती हुए और प्रायोगिक शरीर क्रिया विज्ञान में जा पहुंचे, और आगे चलकर विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हो गए। उन्होंने अपने विषय के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इसके अलावा उनकी बौद्धिक रुचियों के व्यापक दायरे के चलते उनके पुत्र नील्स और हैरल्ड (जो आगे चलकर अव्वल दर्जे का गणितज्ञ बना) का संपर्क प्रचलित वैज्ञानिक व दार्शनिक विचारों से हुआ। उतनी ही महत्वपूर्ण बात यह थी कि उनके परिवार में अच्छे गुणों का आदर होता था: स्कूल में नील्स के सहपाठी, उन्हें उनकी बौद्धिक उपलब्धियों के अलावा एक आत्मविश्वासी, मिलनसार और मददगार व्यक्ति के रूप जानते थे। उनकी यह अच्छाइयां जीवनपर्यंत उनके साथ रहीं। परंतु जब वे राजनीतिज्ञों और राजनेताओं पर परमाणु अस्त्रों की होड़ रोकने के लिए अपने अच्छे गुणों का प्रभाव डालने की कोशिश में नाकामयाब रहे तो बोहर को इन गुणों पर शक हुआ।

रदरफोर्ड का साथ

बोहर का शैक्षिक जीवन शुरूआत में पारंपरिक और सपाट ढर्रे पर चला। 1911 में धातुओं में इलेक्ट्रॉनों के व्यवहार से संबंधित शोध-प्रबंध प्रकाशित करने के बाद उन्होंने केम्ब्रिज की केवेंडिश प्रयोगशाला में काम किया। उस समय केवेंडिश प्रयोगशाला के निदेशक, इलेक्ट्रॉन के खोजकर्त्ता, सर जे. जे. थॉमसन थे। यहां उनकी मुलाकात एक ऐसे शख्स से हुई जिससे उनका भविष्य तय हो गया। उन दिनों अर्नेस्ट रदरफोर्ड, जिन्होंने यह खोज की कि परमाणु में एक नाभिक होता है, केम्ब्रिज में व्याख्यान देने आए थे। बोहर ने तुरंत निर्णय लिया कि उनका भविष्य रदरफोर्ड से जुड़ा है। रदरफोर्ड भी इंसानों के बारे में पैनी नज़र रखते थे। इस तरह बोहर मेनचेस्टर आ गए। यहां दो साल के भीतर उन्होंने उन विचारों का विकास किया जो आधुनिक परमाणु सिद्धांत का आधार बने। उनके काम की बारीकियां आज सिर्फ ऐतिहासिक महत्व की हैं, हालांकि उनकी बातें स्नातक कक्षा की पाठ्य पुस्तकों में शामिल की जाती हैं। उनके विचारों का महत्व यह है कि उन्होंने प्लांक द्वारा ताप विकिरण सिद्धांत के संबंध में प्रतिपादित 'क्वांटम मेकेनिक्स' का कल्पनाशील उपयोग किया। आगे चलकर आइंस्टाइन ने भी इसका उपयोग प्रकाश डालने पर धातुओं में से निकलने वाले इलेक्ट्रॉनों के अध्ययन में किया। बोहर ने दावा किया कि संपूर्ण गतिविज्ञान पर क्वांटम मेकेनिक्स लागू होगा। एक परमाणु के इलेक्ट्रॉनों पर इसे इस्तेमाल करके उन्होंने एक टिकाऊ रचना बनाने की

कोशिश की, जो सौर तंत्र से बहुत भिन्न न थी। इस रचना की कई बातें तो आज भी प्रायोगिक आंकड़ों पर खरी उतरती हैं।

इस काम से बोहर को विश्वस्तर पर ख्याति और मान्यता मिली। कोपनहेगन विश्वविद्यालय में स्थापित सैद्धांतिक भौतिकी पीठ (Chair For Thoretical Physics) के लिए उन्हें वापस बुलाया गया। इस मायने में, रदरफोर्ड के साथ उनका रहना सार्थक साबित हुआ। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह थी कि उनका संपर्क एक व्यापक सर्वदर्शीय समुदाय से हुआ जिसमें प्रतिभाशाली गणितज्ञ, भौतिकशास्त्री व रसायनशास्त्री तत्कालीन महत्व के विषयों पर मिलकर काम करते थे। और इन सबको साथ लाने, जोश दिलाने और धकेलने वाले थे रदरफोर्ड।

कोपनहेगन माडल

बोहर इस मेनचेस्टर वाले अनुभव को डेनमार्क में साकार करना चाहते थे। अपनी प्रतिष्ठा का इस्तेमाल करके वे कोपनहेगन शहर, विश्वविद्यालय व अन्य परोपकारियों से काफी धन जुटा पाने में सफल हुए और 1921 में इंस्टिट्यूट ऑफ थ्योरेटिकल फिज़िक्स

जॉन जे हॉपकिन्स प्रयोगशाला में 1959 में, नील्स बोहर (बाएं) सहयोगियों के साथ एक प्रयोग का अवलोकन करते हुए।

(सैद्धांतिक भौतिकी संस्थान) की स्थापना की। यह संस्थान आजीवन उनकी गतिविधियों का केंद्र बना रहा।

स्थापना के कुछ वर्षों के अंदर ही यह संस्थान भौतिकी की गतिविधियों का महत्वपूर्ण केंद्र बन गया। इसके प्रभाव की तुलना केम्ब्रिज और बर्लिन के स्थापित संस्थानों से की जाने लगी। आखिर यह सब हुआ कैसे? इसका कुछ श्रेय तो बोहर द्वारा युवा व प्रतिभाशाली वैज्ञानिकों को आमंत्रित करने के रिवाज़ को जाता है। इस मामले में उनकी छठी इंद्रिय रदरफोर्ड जैसी ही तेज़ थी। बोहर एक बार व्याख्यान देने गॉटिंगन गए। वहां एक युवक ने उनके निष्कर्षों को चुनौती दी। युवक अभी बीस साल का भी नहीं हुआ था। उस युवक को दरकिनार करने के बजाय, बोहर उसे अपने साथ भ्रमण पर ले गए और नतीजा यह हुआ कि उस युवक को कोपनहेगन में आमंत्रित किया गया। वह युवक वर्नर हाइज़नबर्ग था। परंतु ऐसी बिरली घटनाओं से हमारे प्रश्न का आंशिक जवाब ही मिलता है कि आखिर यह सब हुआ कैसे। इस सवाल का शेष हिस्सा बोहर के व्यक्तित्व, बुनियादी प्रश्नों को लेकर उनके नज़रिए, और काम के तरीके में निहित है। उनके काम का तरीका काफी खुलापन लिए हुए था और आमतौर पर किसी युवा विद्यार्थी या सहकर्मी के साथ अंतहीन चर्चाएं, इसमें शामिल होती थीं। बुनियादी मुद्दों पर चर्चाओं के लिए वे हमेशा तैयार रहते थे।

1920 का दशक भौतिकी में उथल-पुथल का समय था। ब्रह्मांड और उसमें अपने स्थान को लेकर हमारे विचारों के आसमान पर छाए गेलिलियो और न्यूटन के यांत्रिकी सिद्धांत धराशायी हो रहे थे। लेकिन यह क्रांति बोहर का काम नहीं था। अपेक्षाकृत युवा वैज्ञानिक पेरिस में डी-ब्रोग्ली, गॉटिंगन में हाइज़नबर्ग, विएना में श्रोडिंगर और केम्ब्रिज में डिराक इस क्रांति के रचयिता थे। परंतु बोहर और उनके संस्थान ने इस क्रांति को आगे बढ़ाने के लिए बहुत कुछ किया। हर बार किसी बड़े कदम के बाद बोहर से चर्चाएं होती थीं। कभी-कभी, मसलन हाइज़नबर्ग के मामले में, इन चर्चाओं में किसी महत्वपूर्ण कदम की बुनियाद छिपी होती थी। प्रायः ये चर्चाएं उग्र होती थीं। ऐसी ही एक चर्चा से थककर श्रोडिंगर बीमार पड़ गए और कामना की कि अच्छा होता यदि उन्होंने यह खोज की ही न होती। परंतु इन चर्चाओं का केंद्रीय व्यक्तित्व बेहद भला और नेकनीयत था। इस ज़माने के सारे इतिहासकार क्वांटम यांत्रिकी की वैचारिक बुनियाद के विकास में बोहर के साथ हुई इन चर्चाओं को महत्वपूर्ण मानते हैं। इन चर्चाओं में से क्वांटम यांत्रिकी की

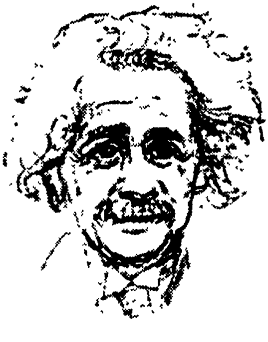

अलबर्ट आइंस्टाइन

नील्स बोहर

व्याख्या का 'कोपनहेगन मॉडल' उभरा, जिसने आधुनिक भौतिकी को कामकाजी औज़ारों का दार्शनिक आधार प्रदान किया। क्वांटम सिद्धांत में वर्णित प्रकृति की समझ में निहित अंतर्विरोध का इसमें सीधा सामना किया गया है। इसमें यह दावा किया गया है कि हालांकि यह सही है कि रोज़मर्रा की भौतिक घटनाओं को समझने के लिए प्रयुक्त अवधारणाओं का उपयोग परमाणु स्तर की घटनाओं को समझने के लिए नहीं किया जा सकता परंतु फिर भी इन अवधारणाओं को दरकिनार नहीं किया जा सकता। हमें इन तरीकों का उपयोग जारी रखना चाहिए, जो इसके लिए ठीक हैं; क्योंकि प्रकृति को वर्णित करने की हमारी सामर्थ्य सीमित है और अवलोकन की किसी भी क्रिया में अवलोकनकर्ता की भूमिका को पूरी तरह हटाना संभव नहीं है। इसीलिए अवलोकन से होने वाली गड़बड़ी को दूर करना भी संभव नहीं है। इस दृष्टि से कोई भी अवलोकन पूरी तरह वस्तुनिष्ठ नहीं है, यद्यपि पूर्णतः व्यक्तिनिष्ठ कारकों की भी इसमें कोई भूमिका नहीं होती। अवलोकन आधारित वर्णन भी इसी कारण से सांख्यिकीय आधारित ही होता है, इसलिए कार्यकारण के तहत नहीं आता।

बोहर-आइंस्टाइन की चर्चाएं

इस मॉडल की इस बात को मान लेना कि किसी प्राकृतिक प्रक्रिया का वस्तुनिष्ठ, कार्यकारण युक्त वर्णन करना बुंनियादी स्तर पर निहित रूप में असंभव है, यह बात कई वैज्ञानिकों व दार्शनिकों को असंगत लगी थी और आज भी लगती है। और विरोधियों के साथ एक ज़बर्दस्त प्रवक्ता थे – क्वांटम यांत्रिकी के जनक और न्यूटन

बोहर का मॉडल

बोहर ने परमाणु की एक सूक्ष्म सौरमंडल के रूप में कल्पना की। इस तंत्र में इलेक्ट्रॉन नाभिक का चक्कर लगाते हैं। आर्नल्ड समरफील्ड ने सुझाया कि इलेक्ट्रॉनों के कक्ष अंडाकार होते हैं। आज हम जानते हैं कि परमाणु की संरचना इतनी सरल नहीं होती है, फिर भी उसे समझने के लिए बोहर-सम्मरफील्ड की यह परिकल्पना आज भी उपयोगी है।

हाइड्रोजन अणु

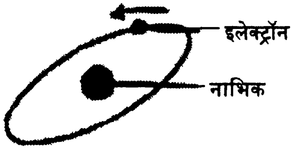

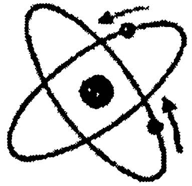

हीलियम अणु

के काम के वारिस – अल्बर्ट आइंस्टाइन। सन् 1927 से लेकर 1955 में अपनी मृत्यु तक आइंस्टाइन ने बोहर और उनके इस दावे से मित्रतापूर्ण किंतु अथक युद्ध किया कि क्वांटम यांत्रिकी प्रकृति का पूरा चित्र प्रस्तुत करती है। अक्टूबर 1927 की पांचवीं सॉल्वे कांग्रेस में और बाद में 1930 की एक बैठक में आइंस्टाइन ने अपनी आपत्तियां पेश की। इसके लिए उन्होंने कुछ ऐसे प्रयोग विकसित किए जिनसे 'कोपेनहेगन मॉडल' के संभावित अंतर्विरोध उजागर होते थे। ऐसे मौकों पर, सारी रात जागकर काटने के बाद, बोहर ने विश्वसनीय प्रतिकार किया। 1930 की बैठक में तो बोहर ने आइंस्टाइन के खुद के गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत – सापेक्षता के सीमित सिद्धात – का उपयोग करके आइंस्टाइन की दलीलों में खामियां दिखाई। यह मुकाबला तो आइंस्टाइन हार गए पर युद्ध अभी शेष था। आइंस्टाइन के साथ हुए शास्त्रार्थों का बोहर द्वारा दिया गया विवरण उन सबके लिए अमूल्य रहेगा जो हमारे विश्वदर्शन के आधारभूत वैज्ञानिक विचारों में दिलचस्पी रखते हैं।

नाभिक का अध्ययन

1930 के दशक में भौतिक शास्त्रियों का ध्यान नाभिक के अध्ययन की तरफ आकृष्ट हुआ। बोहर और उनके सहकर्मी ही इस क्षेत्र के अग्रिम मोर्चे पर थे। रोम में फर्मी, पेरिस में

जोलियट-क्यूरी, और बर्लिन में हॉन और माइट्रन द्वारा महत्वपूर्ण खोजें की जा रही थीं। बोहर और उनके सहकर्मियों ने इन बातों को समझने में अहम योगदान दिया। धीमे न्यूट्रॉन की चोट से यूरेनियम के भारी नाभिक के टूटने व साथ ही ऊर्जा निकलने की बात सबसे पहले माइट्नर (जो कि 1938 में जर्मनी से स्वीडन पलायन कर गए थे) और फ्रिश ने ढूंढ निकाली। फ्रिश उस समय कोपनहेगन में बोहर के साथ काम कर रहे थे। बोहर ने, अपने प्रिंस्टन प्रवास के दौरान, इन विचारों को अटलांटिक पार पहुंचाया और यह भी बताया कि प्रेक्षित टूटन विरल यूरेनियम-235 की है, न कि आम यूरेनियम-238 की। इस सुझाव का अर्थ यह निकला कि यदि यूरेनियम-235 को इसके साथी यूरेनियम-238 से अलग किया जा सके, तो ऊर्जा की विशाल मात्रा निकाली जा सकती है। परमाणु युग शुरू हो चुका था।

बोहर का नज़रिया

यद्यपि बोहर, प्रिंस्टन के जॉन व्हीलर के सहयोग से नाभिकीय संरचना संबंधी अपने काम में लगे रहे परंतु इस खोज के सामाजिक व राजनैतिक परिणामों ने उन्हें परेशान कर दिया। जर्मनी में राजनैतिक स्थिति बिगड़ने के कारण, 1930 के दशक में कोपनहेगन का संस्थान यहूदी वैज्ञानिकों के लिए स्वर्ग बन गया था। बोहर ने उन लोगों की सक्रिय रूप से तलाश की जिन्हें मदद की ज़रूरत थी। इस समय तक उन्हें लगने लगा था कि नाभिकीय विखंडन के जिन परिणामों को वे महसूस कर पा रहे हैं, वे वास्तव में समाज के लिए खतरनाक हैं। दूसरा विश्वयुद्ध शुरू हो चुका था। पहले तो

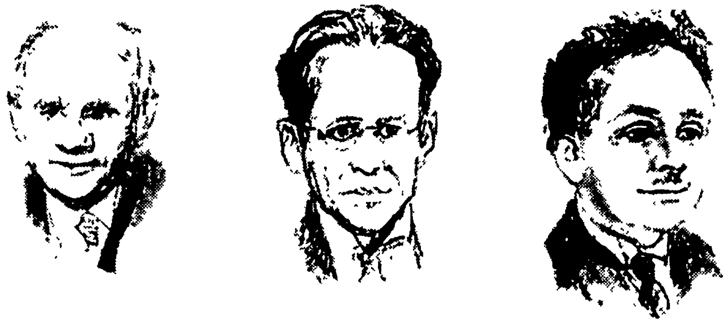

बोहर के समकालीन वैज्ञानिक: (बाएं से) वर्नर हाइज़नबर्ग, श्रोडिंगर और डी-ब्रोग्ली

बोहर ने कोपनहेगन में ही टिककर जितना कुछ कर सकते थे किया। जब उन्हें देश निकाला स्पष्ट दिखने लगा, तो मित्र देशों ने उन्हें पहले तटस्थ स्वीडन और फिर इंग्लैंड भेज दिया। इंग्लैंड में बोहर को परमाणु बम संबंधी ब्रिटिश कामकाज की जानकारी मिली।

अपने मन में बोहर परमाणु हथियार की संभावना को लेकर स्पष्ट थे। उन्हें पता था कि इससे जुड़ी तकनीकी दिक्कतों से पार पा लिया जाएगा, हालांकि इसमें कितना समय लगेगा यह अनिश्चित था। उन्होंने इन हथियारों के नियंत्रण के महत्व को तुरंत पहचाना। उन्होंने ब्रिटिश युद्ध मंत्रालय में परमाणु हथियार विकास के लिए ज़िम्मेदार अधिकारी सर जॉन एंडरसन से सहायता मांगी। उनकी बात बहुत सीधी थी – कि विनाश की क्षमता में एकाएक विकास के चलते रूसियों से सहयोग का एक अभूतपूर्व मौका मिला है, चाहे हमारे सामाजिक नज़रिए और राजनैतिक उद्देश्यों में कितना भी अंतर क्यों न हो। आगे कई वर्षों तक चलने वाली बहस में वे इसी बात पर टिके रहे; लेकिन अंततः असफल और हताश हुए। उनका कहना था कि चूंकि नाभिकीय हथियार बनाने संबंधी बुनियादी तथ्य सर्वविदित हैं, इसलिए इस क्षेत्र में थोड़े समय तक ही अग्रणी बने रहा जा सकता है। परमाणु हथियारों की एक अंतहीन होड़ को रोकने का एकमात्र तरीका, रूसियों के साथ संबंधित ज्ञान का बंटवारा करना ही हो सकता है।

चर्चिल और रूज़वेल्ट से बातचीत

अगले तीन सालों में बोहर ने परमाणु हथियार दौड़ को शुरू होने से पहले ही रोकने की अटूट कोशिशें कीं। वे अब संयुक्त राज्य अमेरिका चले गए। यहां वे 'मैनहेटन प्रॉजेक्ट' में भागीदार बने पर साथ ही उन्होंने ब्रिटिश राजदूत, हैलिफेक्स के अर्ल और न्यायाधीश फेलिक्स फेंकफर्टर की मदद से राष्ट्रपति रूज़वेल्ट से मुलाकात की कोशिश की और सफल भी हो गए। अमरीकी राष्ट्रपति का इस मुद्दे पर रवैया सहानुभूतिपूर्ण था पर वे चाहते थे कि बोहर अपने विचार इंग्लैंड के प्रधानमंत्री चर्चिल को बताएं। रूज़वेल्ट के व्यवहार से बोहर आशान्वित हुए। वे ब्रिटेन गए और सरकार में उच्च स्तर पर यह समझाने की कोशिश की कि रूसियों से परमाणु हथियारों का ज्ञान बांटना कितना ज़रूरी है। लेकिन बोहर को पूर्ण पराजय का सामना करना पड़ा। चर्चिल से मिलना मुश्किल था। बोहर और चर्चिल के बीच 1944 में हुई यह नाज़ुक मुलाकात उन घटनाओं में से है जिनमें विश्व इतिहास करवट लेता है। जब वे मिले तब वातावरण शंकाओं से भरा और वैमनस्यपूर्ण था। चर्चिल बोहर

की बातों के एकदम खिलाफ थे। वह राज्य के मामलों में किसी डेनिश प्रोफेसर की सलाह लेने के लिए कतई तैयार न थे और उन्होंने यहां तक कहा कि रूस की वकालत करने के मामले में बोहर की जांच की जानी चाहिए। चर्चिल के व्यवहार ने रूज़वेल्ट का रूख भी पलट दिया। जल्दी ही, रूस को विश्वास में लिए बगैर, हिरोशिमा और नागासाकी पर बम गिराए जाने से नाभिकीय हथियारों की दौड़ शुरू हो चुकी थी।

बोहर की सारी शंकाएं सच साबित हुई हैं। परमाणु हथियारों के क्षेत्र में सारी बढ़त क्षणिक ही रही। ऐसा लगने लगा जैसे राष्ट्र और परमाणु हथियार एक लगातार ऊपर उठती लिफ्ट पर सवार हो गए हों, और ऐसी कोई जगह नहीं है जहां हम इसे लिफ्ट से उतर सकें। यकीनी तौर पर बोहर ही वो अकेले व्यक्ति थे जिन्होंने इस लिफ्ट को चालू होने से रोकने की कोशिश की थी। उन्होंने सोचा था कि मेनचेस्टर में जो अंतरराष्ट्रीय सहयोग देखा था और जिसका उन्होंने कोपनहेगन में अनुसरण किया था, वह राजनेताओं को भी भाएगा। वे अपनी कोशिशों में नाकाम रहे।

परंतु उनके प्रयासों से एक बात तो उजागर होती है कि वैज्ञानिक और मानवीय सरोकार एक-दूसरे के विपरीत नहीं हैं। प्रकृति अपने सारे रहस्य उस व्यक्ति के सामने खोल देती है, जो उसे आदर के साथ हाथ लगाता है। मानवीयता का सरोकार इसी आदर की एक और अभिव्यक्ति है।

कमल दत्ता — दिल्ली विश्वविद्यालय में भौतिक शास्त्र पढ़ाते हैं।
यह लेख 'स्रोत' के नवंबर 1989 अंक से लिया गया है।

परीक्षण अम्ल और क्षार का

फूलों से मज़ेदार प्रयोग

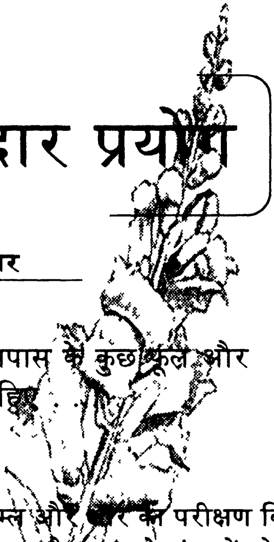

किशोर पंवार

इस प्रयोग को करने के लिए आसपास के कुछ फूल और चंद रसायन ही चाहिए

फूल धारी पौधों की पहचान उन पर खिलने वाले रंग-बिरंगे फूलों से ही है। फूलों के रंग से आकर्षित हो तरह-तरह के कीट-पतंगों और पक्षियों को इनके चक्कर लगाते हुए भी आपने देखा होगा। फूलों पर मंडराने की इस क्रिया में उन्हें प्रोटीन युक्त परागकण और शर्करा से भरपूर मधुरस के रूप में भोजन मिल जाता है। और लगे हाथ इन फूलों का परागण भी हो जाता है। यानी एक फूल के परागकण उसी प्रजाति के अन्य फूलों के स्त्रीकेसर पर इन 'ट्रेवल एजेंसियों' की सहायता से पहुंच जाते हैं।

फूलों की इन पंखुड़ियों में एक और गुण छिपा रहता है जिसका फायदा हम रसायनशास्त्र सीखने में उठा सकते हैं। बहुत से फूलों की पंखुड़ियां सूचक का काम करती हैं यानी कि उनसे अम्ल और क्षार का परीक्षण किया जा सकता है — उनके रंग में होने वाले बदलाव से हमें पता चल जाता है कि हम जिस पदार्थ की टेस्टिंग कर रहे हैं वह अम्ल है या क्षार। आइए, इसी संबंध में एक व्यवस्थित प्रयोग करके देखें।

सबसे पहले आसपास खिले हुए कुछ फूल जैसे गुलमोहर, जासोन (गुड़हल), पीली गुलमोहर, बोगेन-विलिया, नीले फूल वाली गोकर्णी (अपराजिता) और बेशरम बटोर लें।

इसके अलावा नमक का तनु अम्ल, कास्टिक सोड़ा का हल्का घोल, गुलाबी सूचक घोल, नींबू का रस, चार-पांच कांच के गिलास और कुछ परखनलियां जुगाड़ लें। ज़रूरी नहीं कि आप केवल इन्हीं घोलों से परीक्षण करें, अपनी सुविधा और खोज की दिशा के अनुसार और भी पदार्थ जोड़ सकते हैं।

पदार्थ का नाम	विभिन्न फूल			
	बोगेन-विलिया	पीली गुलमोहर	अपराजिता	जासोन
पानी (में रंग)	गुलाबी	हल्काभूरा	हल्का पीला	गहरा नीला
नींबू रस डालने पर	हल्का गुलाबी	परिवर्तन नहीं	गुलाबी नीला	गुलाबी
गुलाबी सूचक	परिवर्तन नहीं	हल्का पीला	परिवर्तन नहीं	हरा नीला
डिटरजेन्ट				
नमक का तनु अम्ल				
कास्टिक सोड़ा घोल				
इमली का घोल				

गुलाबी सूचक घोल अर्थात फिनोफ्थेलीन का घोल जिसमें थोड़ा-सा चूना (क्षार) डाला गया हो। बाज़ार में दवाई की दुकान पर मिलने वाली परगोलेक्स या वेक्युलेक्स की गोली में केवल फिनोफ्थेलीन होती है इसलिए गुलाबी सूचक घोल बनाने के लिए उसका उपयोग कर सकते हैं।

अब हरेक फूल को अलग-अलग कांच के गिलास में एक चौथाई पानी लेकर अच्छी तरह मसल कर दो-तीन घंटे के लिए रख दें। फिर कपड़े या छन्ना कागज़ से छानकर रंगीन पानी अलग कर लें। इस तरह अलग-अलग गिलासों में आपके पास नीले, पीले व लाल रंग के घोल तैयार हो गए। बस अब हो जाइए तैयार, रंगों का मज़ा लेने के लिए। इस बात का खास ध्यान रखना होगा कि किस गिलास में कौन-से फूल का घोल रखा है।

इन रंगों को चार-पांच परखनलियों में थोड़ा-थोड़ा भर लें। अब सब परखनलियों में दो-तीन बूंद नींबू का रस डालें। देखिए क्या होता है। अगर घोल के रंग में कोई बदलाव आता है तो उसे तालिका में नोट कर लीजिए।

अब अगले हिस्से में फूलों के रंगों को साफ परखनलियों में एक बार फिर लेकर अब इनमें कास्टिक सोड़ा के घोल की दो-तीन बूंद बारी-बारी डालें। यही प्रयोग साबुन के घोल, नमक के अम्ल, आदि के साथ भी दोहराएं और परखनलियों में रंगों को एक-से-दूसरे में बदलते हुए देखने का मज़ा उठाएं।

देखिए कि बोगेनविलिया का गुलाबी रंग कैसे देखते-देखते पीला हो जाता है। इसी तरह अपराजिता का नीला रंग कैसे गहरा गुलाबी और गहरा पीला हो जाता है। यानी पदार्थ वही परन्तु अम्ल या क्षार डालते ही कैसे रंग बदल जाता है।

क्या इन प्रयोगों से आप फूलों के रंग और माध्यम की अम्लीयता/क्षारीयता के संबंध में कोई निष्कर्ष निकाल सकते हैं? और क्या-क्या संभावनाएं हैं इस प्रयोग में? प्रयोग करके देखिए और सोचकर अपने विचार और अनुभव संदर्भ को लिख भेजिए।

किशोर पवार शासकीय महाविद्यालय सेंधवा में वनस्पति विज्ञान पढ़ाते हैं।

ज़रा सिर तो खुजलाइए

इस बार इस स्तंभ में देवास के यतीश कानूनगो एक उलझन पेश कर रहे हैं;

1 रुपया = 1 पैसा?

हम जानते हैं कि 1 रुपया = 100 पैसे

= 10 पैसे x 10 पैसे

$= \frac{1}{10}$ रुपए x $\frac{1}{10}$ रुपए

$= \frac{1}{100}$ रुपए

= 1 पैसा

आखिर यह सच कैसे हो सकता है! तो कहां हुई है गड़बड़ – ढूंढिए और लिख भेजिए – आपको संदर्भ मिलने के तीन हफ्ते के भीतर – हमें इस पते पर – संदर्भ, द्वारा एकलव्य, कोठी बाज़ार, होशंगाबाद – 461 001.

गुरु नानक का दोहा औरंगज़ेब की ज़ुबान

सी. एन. सुब्रह्मण्यम

कुछ दिन पहले मैंने अपने देश के अग्रणी भाषाविद सुनीति कुमार चटर्जी का एक बहुत ही दिलचस्प लेख पढ़ा। इस लेख में कई ऐसी बातें हैं जो हमारे इतिहास के राजनैतिक, भाषाई, सांस्कृतिक और धार्मिक पहलुओं को छूती हैं। सोचा कि संदर्भ के पाठक भी इसका लाभ उठाना चाहेंगे। लेकिन यह सुनीति बाबू के लेख का अनुवाद नहीं है, बल्कि एक रूपांतरण है।

औरंगज़ेब के ज़माने के इतिहासकारों में से मुहम्मद साकी मुस्तअद काफी प्रसिद्ध हैं। उन्होंने मआथिर-ए-आलमगीरी नाम की पुस्तक लिखी थी, जिसमें औरंगज़ेब के शासनकाल का वर्णन है। बात 1690 ईसवी की थी जब औरंगज़ेब दकन में कृष्णा नदी के किनारे दौरे पर था। घटना का वर्णन मआथिर-ए-आलमगीरी में इस प्रकार है।

एक दिन जब बादशाह अपनी अदालत में बैठे थे तो सलाबत खान ने एक आदमी को पेश किया; उस व्यक्ति ने कहा, "मैं दूर बंगाल से आया हूं ताकि आलमपनाह का मुरीद (शिष्य) बन सकूं। मैं उम्मीद करता हूं कि आप मेरी मुराद पूरी करेंगे।" बादशाह उसकी बात पर मुस्कुराए; उन्होंने अपनी जेब से सौ रुपए और सोने व चांदी के टुकड़े निकालकर यह कहते हुए सलाबत खान को दिए कि, "उससे कहो कि जो मुराद वह मुझसे चाहता है वह यही है।" उस बंगाली व्यक्ति ने बादशाह के दिए हुए उन रूपयों आदि को फेंक दिया और अचानक पास बह रही कृष्णा नदी में कूद गया। खूब हो-हल्ला हुआ और बादशाह के आदेश पर कुछ लोगों ने पानी में से उसे निकाला। बादशाह ने अपने साथियों की तरफ मुड़कर कहा, "यह बंदा बंगाल से इस मूर्खतापूर्ण

विचार को लेकर आया है कि वह मेरा मुरीद बनेगा!" यह कहने के साथ-साथ बादशाह ने एक हिंदवी दोहा भी सुनाया।"

टवपी लिंड़ी बवरी दिंदी खरे नलज।
चवह खदन मवली तव कल बनधी छज॥

इस दोहे को भी मआथिर में दिया गया है लेकिन फारसी लिपि में। फारसी लिपि में स्वरों के लिए मात्राओं का प्रयोग एक खास तरीके से होता है या फिर अक्सर होता ही नहीं है: पाठक संदर्भ के अनुसार खुद मात्रा लगाकर पढ़ते जाते हैं। तो फारसी में दोहे का जो हाल हुआ देखिए:

कई इतिहासकारों ने इस दोहे का अर्थ निकालने का प्रयास किया लेकिन वे संदर्भ से मेल नहीं खा रहे थे। औरंगज़ेब के आधुनिक इतिहासकार जदुनाथ सरकार ने इसका अर्थ इस प्रकार निकाला:

टोपी लेंदे बावरे देंदे खरे निलाज।
चूहा खादन मावली तू कल बंधे छज॥

आज की भाषा में इसका अर्थ होगा,
'ओ बावरे तुम टोपी पहनकर बावड़ी खोदने की बात करते हो?
चूहे तेरे घर की नींव खोद रहे हैं और तू कल के लिए छज्जा बना रहे हो?'

ज़ाहिर है उस खास मौके पर औरंगज़ेब ने इस तरह के एक दोहे को क्यों कहा होगा यह समझ में नहीं आता है।

सुनीति बाबू ने अपने शोध के दौरान इस पर विचार किया था और उन्होंने एक और विवेचना की। लेकिन वह भी संतोषजनक नहीं थी। इसी बीच एक दिन गुरू ग्रंथ साहब का अध्ययन करते वक्त उन्हें इस दोहे से मिलता-जुलता एक दोहा दिखा। दोहे के रचयिता थे स्वयं गुरू नानक।

"कुल्हां देंदे बावरे लैंदे वडे निलज।
चूहा खड न मावई तिकलि बंन्है छज॥"

यानी,

बावरे कुल्हा देते हैं (मुरीदी की टोपी पहनाकर शिष्य बनाते हैं) और निर्लज्ज लोग उन्हें स्वीकार करते हैं।

चूहा खुद तो छेद (खड) के अंदर नहीं घुस पा रहा है पर उसने अपने पीठ पर एक सूपे को बांध रखा है।

आप देख सकते हैं कि अब अर्थ संदर्भ में सही रूप में बैठ रहा है। औरंगज़ेब यह कह रहा था कि हर कोई गुरू होने का दावा नहीं कर सकता है और जो खुद को पार नहीं लगा सकता है वह दूसरों को कैसे पार लगाएगा? शायद वह खुद की कमज़ोरियों पर गौर कर रहा था।

फिर सुनीति बाबू यह सवाल उठाते हैं कि नानक का यह दोहा औरंगज़ेब की जुबान में कैसे आया? उसने तो

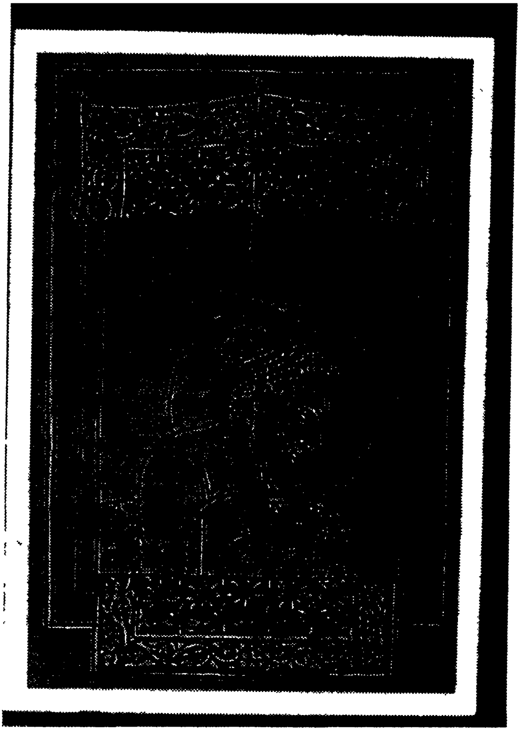

औरंगज़ेब

सिखों को खतम करने की ठानी थी।

यह संभावना कम ही लगती है कि उसने ग्रंथ साहब का अध्ययन किया हो। अगर उसे पता होता कि इसके रचयिता गुरू नानक हैं तो शायद वह उसका उपयोग ही न करता! यह दोहा बोलचाल में प्रचलित हुआ होगा। यानी कि जिस तरह लोग कबीर और रहीम के दोहों को अनायास ही उपयोग करते हैं वैसे ही इस दोहे का भी उन दिनों प्रचलन रहा होगा। लेकिन सवाल अभी भी बचता है कि यह दोहा औरंगज़ेब तक कैसे पहुंचा?

अब कहानी दिलचस्प मोड़ लेती है – सुनीति बाबू मुगल शाही परिवार में इस्तेमाल की जाने वाली भाषाओं की खोज में निकल पड़ते हैं। शाही परिवार के सदस्य किस बोली में बोलते होंगे?

बाबर की मातृ भाषा तो तुर्की थी। वह उस भाषा मे बखूबी बोलता था और लिखता पढ़ता भी था। उसके

बाद उसके वंशज – जो भारत मे बस गए थे – धीरे-धीरे तुर्की भूलते गए। (औरंगज़ेब अपने बेटे को लिखे गए खत में इस बात पर नाराज़गी ज़ाहिर करता है कि वह अपने तुर्की पढ़ाने वाले उस्ताद को चकमा देकर भाग जाता है।)

एक तो उन्होंने फारसी भाषा को अपनाया जो उस वक्त शासन करने के लिए ज़रूरी थी। लेकिन रोज़ उठते-बैठते, आपस मे बतियाने के लिए वे धीरे-धीरे ब्रजभाषा और तत्कालीन खड़ी बोली को अपनाने लगे। ये बोलियां आगरा और देहली की स्थानीय बोलियां थीं। याद कीजिए कि 'अब्दुल रहीम', 'बैरम खान' का पुत्र था और अकबर ने उसे अपने पुत्र के समान शाही महल में पाला था। रहीम ब्रजभाषा के सर्वोत्तम कवियों में माने जाते हैं। अकबर खुद ब्रज में कविताएं रचता था। शाही परिवार में पिता को 'बाबाजी' कहते थे न कि अब्बा जान। भाई एक दूसरे को 'दादा' या 'भाई' करके पुकारते थे।

पश्चिमी भारत में ब्रज के अलावा एक तरह की खड़ी बोली भी बोली जाती थी, जो साधुओं, सूफियों, फकीरों और जोगियों के द्वारा उपयोग की जाती थी। उन दिनों उसे 'साधुकक्ड़ी' बोली कहते थे। इसी बोली के माध्यम से तुकाराम, कबीर, नानक, दादू और रैदास जैसे भक्तों के दोहे और पद जनसामान्य के बीच फैले। सुनीति कुमार का कहना है कि मुगल राजवंश के लोगों ने इन बोलियों को, अपने संपर्क में आने वालों से सीखा होगा और इनके माध्यम से वे भक्तों के इन दोहों से परिचित हुए होंगे।

ब्रज और खड़ी बोली के अलावा सुनीति कुमार बताते हैं कि शाही परिवारों में कुछ संस्कृत का ज्ञान भी अपेक्षित था। वे बताते हैं कि यह परंपरा थी कि सारे हाथियों के नाम संस्कृत में हों और सारे घोड़ों के नाम फारसी में। शायद समझ यह थी कि जो हिंदुस्तान की चीज़ है उसका नाम संस्कृत में और जो अरब या ईरान से आते थे उनका नाम फारसी में होना चाहिए। सुनीति कुमार एक और दिलचस्प उदाहरण देते हैं : एक बार एक शहज़ादे ने औरंगज़ेब को दो नए किस्म के आम भेजे और उससे उनके लिए नाम सुझाने के लिए कहा। औरंगज़ेब ने एक को 'सुधा रस' नाम दिया और दूसरे को 'रसना विलास' – दोनों परिष्कृत संस्कृत नाम हैं।

सी एन. सुब्रह्मण्यम: एकलव्य के सामाजिक अध्ययन शिक्षण कार्यक्रम से संबद्ध।

संदर्भ: S.K.Chatterjee, 'A verse by Guru Nanak in Adi Granth Quoted by Emperor Aurangazeb Alamgir' Select Papers Vol II, PPH New Delhi 1979.

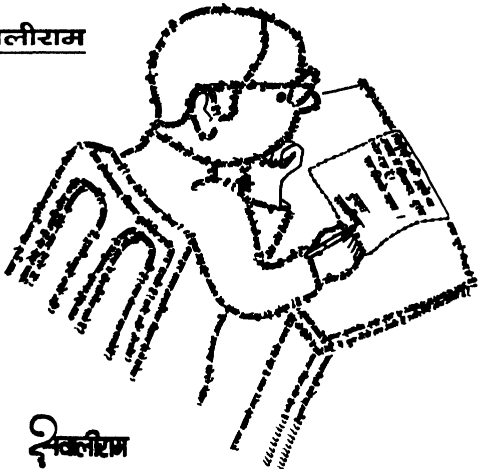

गंध का अहसास

सवाल: हमारी नाक में विभिन्न प्रकार की गंध का अहसास किस प्रकार होता है?

जवाब: चूंकि हमें गंध का अहसास होता है इसलिए ज़रूरी है कि नाक के भीतर कोई तरीका होगा जो गंध की पहचान कर सके। अक्सर कहा जाता है कि बहुत से अन्य प्राणियों की तुलना में हमारी नाक की गंध के प्रति संवेदनशीलता अत्यन्त सामान्य है, फिर भी देखिए हम क्या-कुछ सूंघ कर पता कर लेते हैं।

गर्मी के बाद बरखा के पहले झोंके के साथ नाक में समाने वाली मिट्टी की सोंधी सुगंध, फूलों-फलों की महक, ज़ायकेदार खाने की गमक और भी न जाने कई चीज़ें इस सूची में शुमार हो जाएंगी। यानी कि हमारा अवलोकन कहता है कि नाक द्वारा विभिन्न गंधों को पहचानने का दायरा काफी विस्तृत है।

लेकिन सवाल है कि कैसे फर्क करती है हमारी नाक इन तमाम तरह की गंधों में। आगे बढ़ने से पहले एक बात शुरू में ही साफ कर दें कि नाक द्वारा गंध पहचानने की पूरी प्रक्रिया को समझने की कोशिश आज भी जारी है। कई पहलुओं के बारे में जानकारी पर्याप्त है और कई के बारे में अभी भी विवाद, बहस और खोजों का सिलसिला चल रहा है।

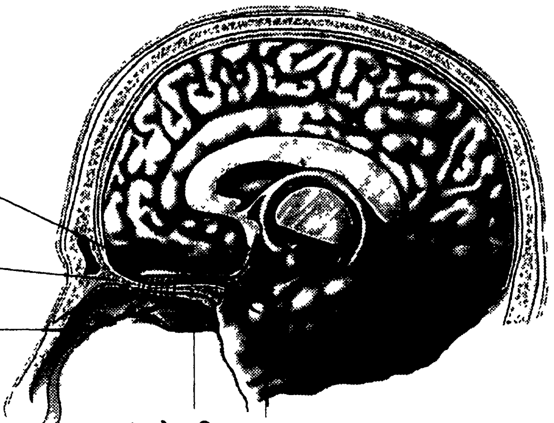

चित्र: 1 — किसी खुशबूदार पदार्थ के अणु गैसीय रूप में नाक के भीतर जाते हैं और नाक की गंध के प्रति संवेदनशील कोशिकाओं के सम्पर्क में आते हैं। सम्पर्क में आए इन अणुओं की सूचना तंत्रिकाओं के माध्यम से दिमाग के ओलफैक्ट्री बल्ब तक पहुंचती है। यहां सूचना की जांच-पड़ताल होती है और एक जटिल परिपथ से होते हुए सूचना दिमाग के उस बाहरी हिस्से में पहुंचती है जहां पर यादों को संजो कर रखा जाता है (सेरिब्रल कॉर्टिक्स)। सेरिब्रल कॉर्टिक्स में भी एक विशेष क्षेत्र होता है जो इस गंध को पहचानता है।

रास्ते की तलाश

शुरुआत में कुछ चित्रों के सहारे यह समझने की कोशिश करेंगे कि गंध की पहचान करने में कौन से हिस्से भूमिका निभाते हैं और नाक से शुरू होने वाली प्रक्रिया कहां-कहां से होती हुई आखिर कहां तक पहुंचती है।

हमारी नासिका गुहा में लाखों की संख्या में ऐसी कोशिकाएं रहती हैं जो गंध के प्रति संवेदनशील होती हैं। इन्हें ओलफैक्ट्री कोशिकाएं कहते हैं।। इन कोशिकाओं से होकर संवेदनशील ग्राहक (Receptors) नाक की ओर खुलते हैं। इन बालनुमा रचनाओं को सिलिया (Cilia) कहा जाता है।

सिलिया को हमेशा गीला रखने के लिए ओल-फैक्ट्री कोशिका में ग्रंथियां होती हैं, जो लगातार एक तरल म्यूकस स्रावित करती हैं।

ये सब वे हिस्से हैं जहां से गंध का अहसास शुरू होता है। इस पहले कदम की प्रक्रियाओं की वजह से हमारी

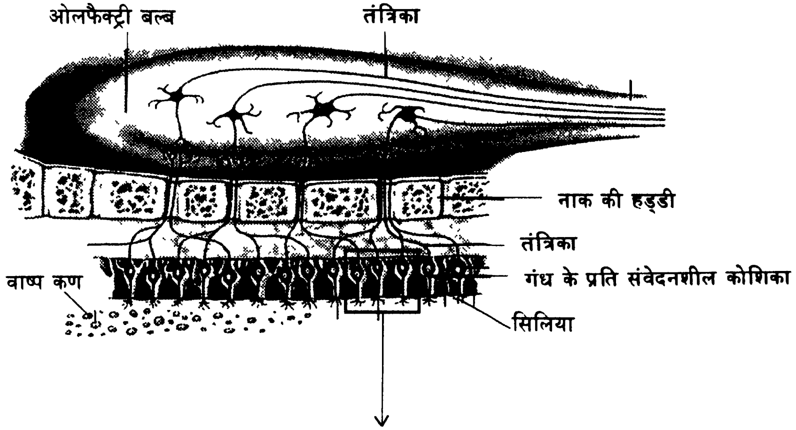

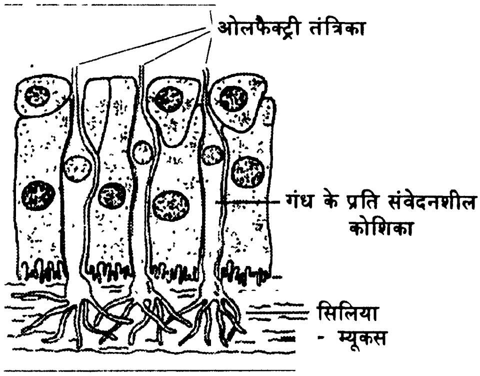

चित्र: 2 — ऊपर के चित्र में ओलफैक्ट्री बल्ब और नीचे उसका एक हिस्सा बड़ा करके दिखाया गया है — जिसमें सिलिया, ओलफैक्ट्री तंत्रिका आदि दिख रहे हैं। इन सभी भागों का संबंध गंध को महसूस करने से है। गंध के प्रति संवेदनशील कोशिका का अंतिम सिरा अत्यंत संवेदनशील सिलिया है जो रेशेदार होते हैं। सिलिया हमेशा एक तरल म्यूकस की परत से ढंके रहते है। जैसे ही किसी खुशबूदार पदार्थ के अणु नाक से होकर, म्यूकस में घुलकर सिलिया के सम्पर्क में आते हैं, सिलिया इस पदार्थ की सूचना नाक की हड्डी के दूसरी ओर स्थित ओलफैक्ट्री बल्ब तक पहुंचाते हैं। ओलफैक्ट्री बल्ब से परिष्कृत सूचनाएं दिमाग की ओर जाती हैं। यूं तो सारी प्रक्रिया काफी जटिल और समय लेने वाली लगती है लेकिन गंध का अहसास एक मिली सेकंड से भी कम समय में हो जाता है।

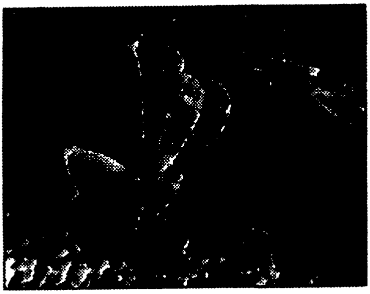

चित्र: 3 – सिलिया का इलेक्ट्रॉन माइक्रोस्कोप से लिया गया एक चित्र। इसमें सिलिया की संवेदनशील बालनुमा रचना दिखाई दे रही है। आमतौर पर गंध के प्रति संवेदनशील प्रत्येक कोशिका पर ऐसे 6 से 12 महीन बाल होते हैं। इनकी लम्बाई लगभग 200 माइक्रोमीटर और मोटाई 0.3 माइक्रोमीटर होती है।

नाक की गंध सूंघने की सीमाएं तय हो जाती हैं कि हम क्या सूंघ सकते हैं, और किन पदार्थों की गंध का अहसास हमें कभी भी हो ही नहीं सकता।

पहली, सिर्फ वे ही पदार्थ जो एक हद से ज़्यादा वाष्पशील हों हमारी नाक तक पहुंच सकते हैं, ताकि हवा के माध्यम से नाक में घुस सकें। इसीलिए दुनिया की बहुत-सी चीज़ों की गंध का हमें पता ही नहीं चलता, चाहे वह पत्थर के टुकड़े हों, हमारे आसपास बिखरी हुई धातुएं हों, प्लास्टिक हो या और भी बहुत कुछ ...।

दूसरी, नाक में घुसने वाला वाष्पशील पदार्थ कम-से-कम पानी में थोड़ा-बहुत तो घुलनशील होना चाहिए, ताकि म्यूकस में घुलकर सिलिया तक पहुंच सके, क्योंकि सिलिया म्युकस में डूबे रहते हैं।

तीसरी, वे वाष्पशील पदार्थ जो नाक के भीतर पहुंच रहे हैं वसा अम्लों के ईस्टर (lipid) में भी घुलनशील हों यह ज़रूरी हो जाता है क्योंकि सिलिया की झिल्ली पर मौजूद प्रोटीन इन घुलनशील पदार्थों के साथ बंध बनाता है जिससे आगे की प्रक्रिया हो पाती है। अघुलनशील पदार्थों को प्रोटीन निकाल बाहर करता है।

जो भी वाष्पशील पदार्थ इन तीनों शर्तों को पूरा करेगा नाक उसकी गंध पर ही आगे की कार्यवाही करेगी।

गंध पहचाने की प्रक्रिया

गंध देने वाले पदार्थ के अणु हवा के साथ नाक में भीतर तक चले आते हैं और तरल म्यूकस में घुलकर सिलिया के सम्पर्क में आते हैं। इसके बाद एक रासायनिक क्रिया शुरू होती है। सिलिया पर मौजूद प्रोटीन म्यूकस में घुलकर आए इन अणुओं के साथ बंध बना लेता है। ऐसा भी माना जाता है कि सिलिया को उत्तेजित करने के लिए इस तरह के बंध बनना ज़रूरी है।

सिलिया की कोशिका झिल्ली की बाहरी सतह पर धन आवेश होता है

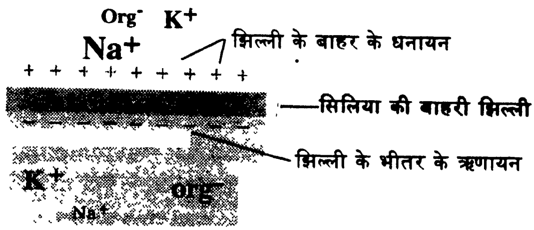

चित्र: 4 — झिल्ली के बाहर सोडियम आयनो की सांद्रता पोटेशियम और कार्बनिक आयनों से ज़्यादा है। जबकि झिल्ली के भीतर की ओर पोटेशियम आयनों की सांद्रता सोडियम आयनों से ज़्यादा है। ऋणावेशित कार्बनिक आयनों का प्रभाव अधिक होने के कारण झिल्ली की भीतरी सतह ऋणात्मक है।

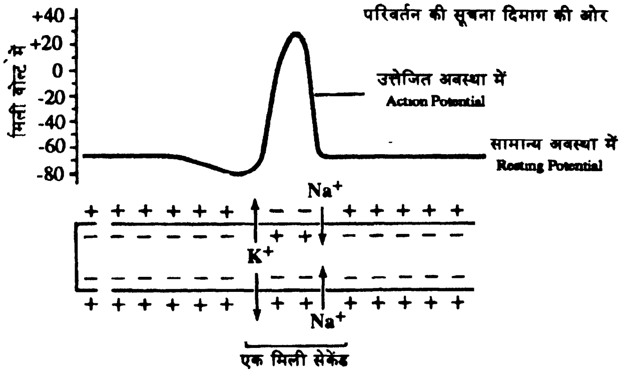

चित्र:5 — यहां ग्राफ की मदद से एक सिलिया की बाहरी झिल्ली की सामान्य तथा उत्तेजित अवस्था दिखाई गई है। साथ ही उस एक मिली सेकंड समय में झिल्ली की पारगम्यता में परिवर्तन आने से किस तरह आयन अंदर-बाहर हो रहे हैं इसे भी देख सकते हैं।

और भीतरी सतह पर ऋण आवेश (चित्र: 4)। यह झिल्ली सामान्य अवस्था में सोडियम आयनों को भीतर नहीं आने देती लेकिन जब बंध बन जाते हैं तो सिलिया की यह झिल्ली पारगम्य हो जाती है। फलस्वरूप झिल्ली के बाहर के कुछ सोडियम आयन अंदर आ जाते हैं जिससे कोशिका की भीतरी सतह

बनावटी नाक

जब नाक जैसी चीज़ भी बनावटी बनने लगे तो कान खड़े होना स्वाभाविक ही है। हाल ही में नियोट्रॉनिक्स नाम की कम्पनी ने एक बनावटी नाक बना डाली जो हमारी असली नाक की तरह खुशबू का अहसास करती है लेकिन कुछ फर्क तरह से।

इस नाक में संवेदक कोशिकाओं के स्थान पर कार्बनिक पदार्थ पायरोल के पॉलीमर से बने संवेदक होते हैं। इन पॉलीमर की विशेषता यह है कि यह विंद्युत के सुचालक होते हैं। इन पर कुछ खास पदार्थ चिपक जाएं तो इनकी चालकता भी बदल जाती है। इस नाक में ऐसे 12 संवेदक लगे हैं। जब भी इन संवेदकों पर से कोई खुशबूदार हवा बहेगी तो खुशबू में शामिल विभिन्न पदार्थों की वजह से संवेदकों की चालकता भी प्रभावित होगी। चालकता में आए परिवर्तन को रिकार्ड कर लिया जाता है और पोलर-प्लॉट (एक किस्म के चित्र) पर खुशबू का चित्र बनाकर उसे पहचाना जाता है।

शायद आप यह जानते ही होंगे कि चाय, कॉफी, शराब आदि उद्योगों में खुशबू का काफी महत्व है।

जाते हैं, संतुलन फिर कायम हो जाता है और झिल्ली की भीतरी सतह ऋण आवेशित हो जाती है।* इस तरह फिर से पहले वाली सामान्य स्थिति यानी झिल्ली द्विध्रुवीय बन जाती है। इस घटना – जिसे एक्शन पोटेंशियल कहा जाता है – के कारण झिल्ली के प्रतिरोध में बदलाव आता है। प्रतिरोध में आए इस बदलाव के कारण वोल्टेज में भी परिवर्तन होता है। परिवर्तन की यह सूचना एक रिले रेस की तरह सिलिया आगे की ओर भेजती है।

अगली बात, जिस पर लगातार शोध कार्य चल रहा है कि सिलिया पर असल में होता क्या है, जिससे गंध का अहसास होता है।

नाक को लेकर हुई शुरूआती खोजों से यह पता चला कि इंसानी नाक लगभग दस हज़ार किस्म की गंध को पहचान सकती है।

कुछ दशकों पहले प्रारंभिक गंध परिकल्पना आई थी। इसमें सुझाया गया था विभिन्न गंध, सात गंधों के

* यहां यह भ्रम मत बना लीजिए कि प्रतिरोध में बार-बार आने वाले बदलाव के कारण सारे सोडियम आयन भीतर आ जाएंगे और सारे पोटेशियम आयन बाहर निकल जाएंगे। झिल्ली के दोनों ओर आयनों की एक निश्चित सांद्रता बनाए रखने के लिए झिल्ली में एक पंपनुमा व्यवस्था होती है जिसे सोडियम-पोटेशियम पंप कहा जाता है।

मिश्रण से बनती हैं। इन सात गंधों को प्रारंभिक गंध कहा गया। ये प्रारंभिक गंध थीं – कपूर जैसी गंध, कस्तूरी जैसी गंध, फूलों जैसी, पिपरमिंट जैसी, ईथर जैसी, तीखी गंध और सड़ांधनुमा गंध।

आगे की खोजों में (जिनमें से अधिकांश को मान्यता नहीं मिल सकी) कई खुशबूदार पदार्थों के अणुओं के आकार और आकृति का अध्ययन कर यह माना जाने लगा कि किसी गंध में मौजूद उस पदार्थ के अणुओं के आकार और आकृति के आधार पर ओलफैक्ट्री कोशिका गंध को पहचानती है। उदाहरण के लिए – कपूर जैसी गंध वाले अणुओं की आकृति लगभग गोलाकार होती है और आकार 0.7 नैनो मीटर। इसी तरह के आकार-आकृति अन्य गंधों के लिए बताई गईं। नाक के भीतर की ओलफैक्ट्री कोशिका पर भी इसी तरह के आकार और आकृति वाले गड्ढों की कल्पना की गई। और सुझाया गया कि गंध के रूप में ये अलग-अलग आकार व आकृति वाले अणु ओलफैक्ट्री कोशिका के सम्पर्क में आते हैं। वे उस पर अपने आकार व आकृति के हिसाब से फिट बैठ जाते हैं, जैसे किसी ताले में उसकी चाबी ठीक से लग जाती है। इस तरह नाक गंध बताती है। यह परिकल्पना थोड़े समय तक स्वीकार की गई लेकिन और खोजों के बाद यह अस्वीकार हो गई।

सिलिया के साथ गंध के अणुओं के संबंध को लेकर तरह-तरह की अटकलें लगाई जाती रही हैं जो अणुओं के आकार, रासायनिक बंध, अणुओं के विद्युत आवेश आदि पर आधारित हैं। लेकिन समस्या यह है कि कोई भी परिकल्पना सभी पदार्थों पर समान रूप से लागू न होने के कारण एक सिद्धांत के रूप में स्थापित नहीं हो सकी। हाल में एक और परिकल्पना आई है कहा गया है कि विभिन्न पदार्थों के अणुओं के बीच स्थित बंधों की कम्पन की आवृति भिन्न-भिन्न होती है। इन्हीं के कारण हम गंध की पहचान करते हैं।

अलग-अलग अणुओं से बने बंधों में कम्पन की आवृति भिन्न होती है। इन कम्पनों के कारण हम गंध की पहचान करते हैं।

शायद अभी भी नाक द्वारा गंध के अहसास के बारे में पक्के तौर पर कुछ कह पाना मुश्किल है हालांकि कृत्रिम नाक भी बना ली गई है लेकिन गंध की पहली सीढ़ी यानी सिलिया पर क्या होता है इसके बारे में सिर्फ अटकलें ही लगाई जा रही हैं।

यह सवाल पूछा था – प्रमोद यादव, बैनर्जी कॉलोनी, पिपरिया, ज़िला होशंगाबाद ने।

*(इस जवाब को तैयार किया है **माधव केलकर** ने: माधव संदर्भ टीम के सदस्य हैं)*

किताबें करती हैं बातें

चित्रों वाली किताबों को देखते हुए बच्चे बहुत कुछ सीख-समझ रहे होते हैं। बस ज़रूरत है उनसे बात करके यह समझा जाए कि बच्चे क्या समझ रहे हैं।

कमलेश चन्द्र जोशी

अक्सर हम लोगों का यह अनुभव रहा है कि बच्चों को रंग-बिरंगी, पशु-पक्षियों वाली, मोटे अक्षरों वाली किताबें बहुत अच्छी लगती हैं। आइए हम यह जानने की कोशिश करें, कि आखिर बच्चे इन रंग-बिरंगी किताबों को देख-पढ़कर क्या समझ रहे हैं, क्या सीख रहे हैं? इन्हीं सब बातों को लेकर मैं चार-छह साल के बच्चों के साथ अपने अनुभव आपके साथ बांटना चाहूंगा।

दिल्ली में 'अंकुर' संस्था के गौतमपुरी केन्द्र की लाइब्रेरी में औसतन 20-25 बच्चे रोज़ आते हैं। यहां पर हम बच्चों के साथ किताबों में से कहानी-कविताएं पढ़ने, सुनाने, लिखने और साथ ही बच्चों में किताबों के प्रति रुचि पैदा करने के लिए कुछ और गतिविधियां करते हैं। सुबह के समय हमारे केन्द्र में आने वाले बच्चों में वे बच्चे होते हैं जो सुबह स्कूल नहीं जाते या जिनका नाम स्कूल में

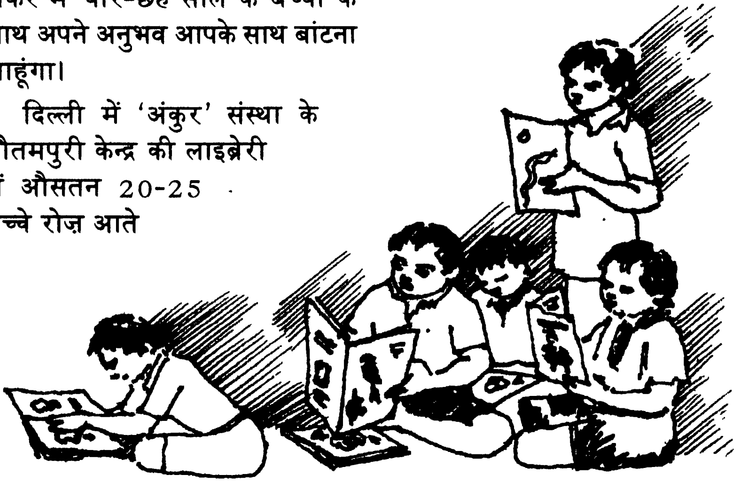

नहीं लिखा है। चार-पांच साल के ऐसे कुछ छोटे बच्चे प्रतिदिन आते हैं। ये बच्चे बकाइन के पेड़ के नीचे अपने आप चटाई बिछाते हैं, ब्लैक-बोर्ड रखते हैं। फिर उनके आगे 20-25 किताबें फैला दी जाती हैं। आइए, अब हम यह देखने की कोशिश करें कि ये बच्चे इन किताबों में क्या देखते हैं, कैसे पढ़ते हैं, और क्या समझते हैं?

मौलिक भाषा का विकास

चार साल का इन्द्रजीत 'मेंढक और सांप' किताब देख रहा है। वह उसका मुखपृष्ठ देखता हुआ अपने दोस्त भारत को बता रहा है – "इत्ता मोटा सांप। मेंढक कितना छोटा है। अभी सांप मेंढक को खा जाएगा।" फिर वह आगे पन्ने पलटते हुए भारत को बता रहा है कि "मेंढक पानी में रहता है, ये सांप आ रहा है।" इस किताब को देखने में उसे मुश्किल से 5-7 मिनट का समय लगा होगा। लेकिन इस दौरान दोनों बच्चों की बातचीत से कई बातें मैं समझ सका। जैसे, बच्चा मोटे और छोटे के भेद को समझ पा रहा है। वह चित्रों को देखकर उनमें संबंध जोड़ रहा है और उसके आधार पर अनुमान भी लगा रहा है कि सांप मेंढक को खा जाएगा। ये छोटी-छोटी बातें उसकी मौखिक भाषा के विकास में एक हद तक सहायक हैं। वह चित्र को समझते हुए मौखिक रूप से व्यक्त कर रहा है। बच्चों की यह मौखिक अभिव्यक्ति आगे उसकी लिखित भाषा के रूप में कैसे सहायक होती है, इस पर भी गौर करना होगा।

मैं बच्चों से कहता हूं कि किताबों में देखे गए चित्रों जैसे – सांप, मेंढक, पतंग, फूल, पेड़ इत्यादि को अब हम खुद बनाएंगे। उसके लिए मैं उन्हें कागज़ के टुकड़े देता हूं। इन कागज़ों पर टेढ़े-मेढ़े लेकिन अपने ढंग से बच्चे इन चित्रों को बनाते हैं। अब मैं इन चित्रों में रंग भरवाता हूं और पूछता हूं कि तुमने क्या-क्या बनाया? बच्चे अपने सभी चित्रों को पहचानते हैं तथा बताते हैं। इन्द्रजीत कहता है, "मैंने पतंग बनाई।" मैं उससे दुबारा पूछता हूं – "क्या तुम्हें पतंग लिखना आता है?" वह कहता है – "नहीं।" मैं उसे पतंग लिखकर दिखाता हूं। पहले वह इसे कागज़ के टुकड़े पर लिखता है। मैं कहता हूं इसे कॉपी पर लिखो और पतंग भी बनाओ। अब वह लिखने की प्रक्रिया पर आता है। इसी तरह वह आगे चलकर और कई जानी-पहचानी चीज़ें भी लिखना सीखता है।

यह तो हुई एक बात कि बच्चा चित्रों की किताब देखने के बाद लिखना भी सीख रहा है, लेकिन आमतौर पर हम अध्यापक या पालक बच्चों से उम्मीद करते हैं कि बच्चे को एक किताब दे दी जाए और वह पूरे मन से उस किताब को आधे घंटे देखता

सभी चित्र: किशोर उमरेकर

रहे। फिर हम उससे जो भी पूछें वह हमें बता दे। यहां हमें इस तथ्य पर गौर करना होगा कि चार-पांच साल के बच्चे के लिए किताब में चित्र के अलावा किसी अन्य चीज़ का कोई महत्व नहीं है क्योंकि किताब के शब्द अभी वह पढ़ना नहीं जानता। वह केवल चित्रों से ही संबंध बना रहा है। इसके अलावा एक छोटा बच्चा एकाग्रचित होकर एक किताब को आधे घंटे कैसे देख सकता है?

चित्रों से बातचीत

एक दूसरा उदाहरण भी देखें, चार साल का गुड्डू जो कि बस्ती में अभी नया-नया है। वह पूर्वी उत्तर-प्रदेश की भाषा बोलता है। वह 'ये है पेड़' किताब देखते हुए चित्रों पर टिप्पणी कर रहा है, कहीं-कहीं चित्र उसकी समझ में नहीं आ रहे हैं, तो वह मुझसे पूछ रहा है। उसका इस किताब के साथ वार्तालाप काफी मज़ेदार रहा। वह सेब के पेड़ वाला चित्र देखते हुए कह रहा था – "पेड़े मा आम लागा है, तोड़े के खावा जाय।" इसको कहते हुए वह पेड़ से सेब तोड़कर आम खाने का अभिनय कर रहा है। इसके बाद वह कह रहा है कि 'मीठ है।' यहां पर गुड्डू अपने पहले खाए हुए आम के स्वाद को याद कर रहा है कि आम मीठा होता है। आगे इसी किताब के एक चित्र में पेड़ पर बैठे बंदर को

देखकर वह बोल पड़ता है – "पेड़े पर बनरवा बैइठ है, सारे का मार डारौ।" फिर वह अपने हाथों से बंदर को मार भी रहा है। गुड्डू ने ऐसा क्यों कहा, गुड्डू बंदर को क्यों मार रहा है, उसमें इस तरह की प्रवृत्ति कहां से जन्मी? इन सब सवालों के लिए हम अनुमान तो यही लगा सकते हैं कि हो सकता है कि उसने अपने गांव में कभी देखा होगा कि लोग बंदर को भगा देते हैं क्योंकि वह हमारा नुकसान करता है।

इसके अलावा मैंने कुछ छोटे बच्चों को किताबों को आकार के हिसाब से बड़े से छोटे क्रम में लगाते हुए भी देखा है। यहां यह बात साफ हो जाती है कि बच्चों में निरीक्षण करने की क्षमता के साथ-साथ आकारों की समझ भी है। बच्चे चीज़ों का निरीक्षण करते हुए उन्हें फिर व्यवस्थित रूप से अपने आप लगाते हैं। एक-दो बार तो मैंने यह भी देखा कि कुछ बच्चे किताब से निकलकर बाहर गिरे पन्नों पर बने चित्रों को देखकर ही समझ जाते थे कि यह किस किताब का पन्ना होगा और फिर वे उस पन्ने को उस किताब में लगा देते हैं।

ये छोटी-छोटी बातें

वैसे तो इन छोटी-छोटी चीज़ों का बच्चे की शिक्षा से सीधा संबंध भले न हो, लेकिन एक गहरा रिश्ता तो ज़रूर है। वह इन क्रिया-कलापों द्वारा चीज़ों को समझ रहा है, संबंध जोड़ने की कोशिश कर रहा है, समानता देख पा रहा है।

अब बच्चों के चित्र संबंधी अवलोकनों को हम ज़रा अपने अनुभवों से भी जोड़कर देखें। जब हम अपने बड़े-बुजुर्गों, मित्रों, रिश्तेदारों आदि की तस्वीरें थोड़ा गौर से देखते हैं तो हम उनके साथ बिताए दिनों को याद करते हैं। वह तस्वीर कब खींची थी जैसी कई बातों को

याद करते हैं। हम ऐसा कह सकते हैं कि हमारे सामने एक चित्र के द्वारा मस्तिष्क में एक 'फिल्म-सी' बन जाती है। इस फिल्म में और भी बहुत सारे अनुभव होते हैं। कभी-कभी यह भी होता है कि चित्र में आए चरित्रों की भावनाओं या उनके अनुभवों की भी हम कल्पना करते हैं। बच्चे भी कुछ ऐसा ही करते हैं। वे भी किताबों के चित्रों में कभी-कभार खुद को रखकर देखते हैं। यह कल्पना उनके आगे के विकास के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। क्योंकि जब बच्चे चित्र बनाना, लिखना सीख जाते हैं तब वे कल्पना के द्वारा मौलिक अभिव्यक्ति देते हैं, चाहे चित्रों के द्वारा या कहानी-कविताओं के रूप में।

अंत में, मैं यह कहना चाहूंगा कि बच्चों को इन रंग-बिरंगी किताबों को देखने में मुश्किल से 8-10 मिनट लगते हैं। अब ये आपके ऊपर है कि आप इन किताबों पर कितनी देर बात कर सकते हैं? आमतौर पर बच्चे इन किताबों को देखते हुए बोर नहीं होते। वे उन्हें बार-बार देखते हैं तथा हर बार वे कुछ नया संबंध बिठाते हैं। चीज़ें आप बच्चों के साथ गौर कर देख सकते हैं। मैंने यह भी महसू किया है कि बच्चे किताबों को न प पाने के बावजूद भी सिर्फ देखकर ह उनसे पूरी तरह परिचित हो जाते हैं हो सकता है किसी दिन कोई बच्च आपसे अपनी देखी हुई किताब मां ले। एक दिन हुआ कुछ यूं कि गुड्ड मुझसे कह रहा था – "मास्टर व गाड़ी वाली किताब लाव" उसक आशय 'रेलगाड़ी चले छुक-छुक किताब से था। मैं कहता हूं– "अभ मेरे पास नहीं है।" तो वह तुरन्त कहत है, "काल्ह तो रहय।" फिर मैं उर बताता हूं कि कोई पढ़ने के लिए ल गया होगा। इस पर वह मान जाता है

इसी तरह से इन्द्रजीत भी हाथी वाली, गुब्बारे वाली, बंदर वाली, चूह वाली आदि नामों से कई किताबों को पहचानता है। बच्चों की किताबें देखने से जुड़ी और भी न जाने कितनी बातें हम रोज़ देखते हैं लेकिन गौर-ए-काबिल नही समझते।

कमलेश चन्द्र जोशी: बच्चों के साथ विविध गतिविधियां करते और करवाते हैं। फिलहाल लखनऊ की नालंदा संस्था में सक्रिय।

इस लेख के सभी चित्र किशोर उमरेकर ने बनाए हैं।

भूलः पिछले अंक में प्रकाशित लेख 'साकार होती कल्पनाएं' के चित्र किशोर उमरेकर ने बनाए थे। असावधानीवश उनका नाम लेख के साथ जाना छूट गया था। इस भूल के लिए हमें खेद है।

सं.

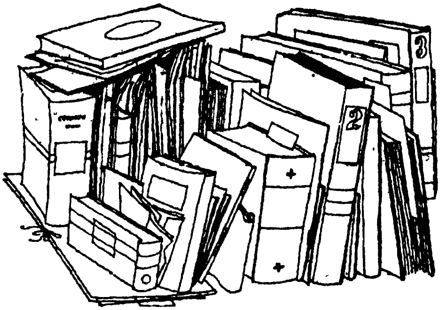

लेखक: लेव तोलस्ताय
किताब: शिक्षाशास्त्रीय रचनाएं

तरीकों की खोज इतिहास पढ़ाने के

. . जो कुछ उन्होंने सीखा था, उसे वे भूल गए थे . . . एक भी विद्यार्थी मुझे नहीं बता सका कि सीमा क्या होती है, रूस और रूसी क्या है, कानून किसे कहते हैं . . .

तोलस्तोय का गांव – *यास्नाया पोल्याना*। 1859 में तोलस्तोय ने वहां एक स्कूल चलाया। स्कूल में जो व्यवस्था कायम थी वह उनके अपने कार्यक्रम के मुताबिक थी, विद्यार्थी तीन आयु वर्ग में बंटे थे – छोटे, मंझले और बड़े। हर अध्यापक दिन में पांच या छह पाठ पढ़ाता था। पढ़ाई का मुख्य तरीका अध्यापक और विद्यार्थियों के बीच उन्मुक्त बातचीत था।

तोलस्तोय बड़े आयु वर्ग के बच्चों को गणित, भौतिकी, इतिहास और कुछ अन्य विषय पढ़ाते थे। जो पढ़ाना होता था, उसे वे प्राय: किस्से कहानी या ऐसा ही कोई अन्य रूप दे देते थे। उनके पाठों में पढ़े या सुने हुए का अपने शब्दों में वर्णन करने का – जो बच्चों

को बहुत पसंद था – और मनपसंद विषय पर निबंध लिखने का अभ्यास भी कराया जाता था।

बाहरी आदमी को, विशेषतः सरकारी स्कूलों के अध्यापकों को, ऐसा लग सकता था कि उस स्कूल में व्यवस्था नाम की कोई चीज़ नहीं है। विद्यार्थियों के बैठने की कोई निश्चित जगह नहीं थी – सज़ा देने की सख्त मनाही थी। होमवर्क नहीं दिया जाता था।

तोलस्तोय स्कूल में ऐसे अध्यापक रखते थे जो शिक्षण व्यवस्था के बारे में उनके विचारों से सहमत थे। अध्यापक नियमित रूप से मिल कर अपने काम के तरीकों, और सफलताओं व असफलताओं के कारणों पर विचार-विनिमय करते थे। इस स्कूल के अनुभवों की कुछ झलकें इस लेख में हैं।

इतिहास समझाने की जुगत. . .

ओल्ड टेस्टामेंट* खत्म करने के बाद स्वाभाविकतः मैंने सोचा कि इतिहास और भूगोल पढ़ाए जाएं – इसलिए भी कि इन्हें समस्त स्कूलों में पढ़ाया जाता है तथा खुद मैंने भी उन्हें पढ़ा था।

और इसलिए भी कि मुझे लगता था कि ओल्ड टेस्टामेंट की यहूदियों की कहानी स्वाभाविकतः बच्चों के मन में जिज्ञासाएं पैदा करती है कि जिन घटनाओं के बारे में उन्होंने बाइबिल में पढ़ा है, वे कहां, कब और किन परिस्थितियों में घटी थीं? मिस्र, फराऊन और असीरियाई राजा क्या हैं? वगैरह।

इतिहास को जैसे हमेशा शुरू करते हैं, मैंने भी उसी तरह प्राचीन काल के इतिहास से शुरू किया। मगर सभी कोशिशों के बावजूद मैं उसे रोचक नहीं बना पाया। बच्चों को सेज़ोस्त्रिस, मिस्री पिरामिडों और फीनिशियाइयों से कोई मतलब नहीं था। कभी कहीं रहते किन्हीं राजाओं, फराऊनों, फिलिस्तीनियों, आदि के बारे में जानने में उन्हें कोई मज़ा नहीं आता था...।

विश्व इतिहास के बाद मुझे अपने देश रूस का इतिहास पढ़ाकर देखना था, और मैंने भी वैसे ही वर्णन से रूसी इतिहास शुरू किया, जो न कलात्मक है, न शिक्षाप्रद। मैंने उसे दो बार शुरू किया – पहली बार सारी

* ओल्ड टेस्टामेंट: बाइबिल का पहला हिस्सा जो ईसामसीह के पहले के मसीहाओं की बातों को बताता है।

बाइबिल को खत्म करने से पहले और दूसरी बार बाइबिल को खत्म करने के बाद।

बाइबिल को खत्म करने से पहले जब पढ़ा रहा था, तो विद्यार्थियों ने *ईगोर* और *ओलेग* के अस्तित्व को याद रखने से ही इंकार कर दिया। वही बात अब छोटे विद्यार्थियों के साथ हो रही है, जिन्होंने बताए जा रहे को समझना और फिर अपने शब्दों में दोहराना बाइबिल के आधार पर नहीं सीखा है। वे पांच-पांच बार सुनकर भी रूसी इतिहास से कुछ याद नहीं रख पाते। बड़े विद्यार्थी अब रूसी इतिहास को याद कर लेते हैं और लिख भी लेते हैं, पर बाइबिल जितनी अच्छी तरह से बिल्कुल भी नहीं, और इसलिए प्राय: दोहराने की मांग करते हैं।

एक अध्यापक तो अपनी रौ में इतना बह गया कि स्वतंत्र रियासतों के काल को छोड़ देने की मेरी सलाह को उसने नहीं माना और *स्तीस्लावों, ब्रियाचिस्लावों और बोलेस्लावों* से संबंधित सारी बकवास और अनर्गल बातों को दोहराने लगा। उसकी कक्षा में मेरा जाना ऐसे समय पर हुआ, जब विद्यार्थियों को अध्यापक के मुंह से सुना हुआ अपने शब्दों में दोहराना था। मैं बयान नहीं कर सकता कि क्या हुआ। बहुत समय तक सब चुप रहे। आखिरकार अध्यापक द्वारा बुलाए गए लड़कों में जो ज़्यादा साहसी और ज़्यादा तेज़ याददाश्त वाले थे, वे बोलने लगे। सारी बौद्धिक शक्तियां इस पर केन्द्रित थीं कि 'अजीबोगरीब' नाम याद रखें – पर किसने क्या किया था, यह उनके लिए कोई महत्व नहीं रखता था। ... जो सबसे तेज़ याददाश्त वाले थे, वे आगे भी कोशिश करते और शायद ठीक ही जवाब देते, अगर उन्हें बीच-बीच में याद दिलाया जाता रहता।

मगर यह सब इतना घिनौना था और इन बच्चों को देखकर ऐसी दया आती थी कि हमने, यानी इतिहास पढ़ाने वाले अध्यापक और मैंने तय किया कि ऐसी गलतियां और नहीं की जाएंगी।

* * *

कल मैं अपनी कक्षा से निकलकर इतिहास की कक्षा में गया। मैं जानना चाहता था कि बगल के कमरे से सुनाई दे रहे शोर-शराबे का क्या कारण है। पता चला कि *कुलिकोवो* की लड़ाई* के बारे में पढ़ाया जा रहा था। सब अत्यंत उत्तेजित थे। "यह हुई न बात! कैसी होशियारी दिखाई!", "मुझे सुनाने

* यह लड़ाई दोन नदी के तट पर कुलिकोवो के मैदान में 1380 में रूसियों और मंगोल-तातारों के बीच हुई थी। उसमे विजय रूसियों की हुई।

दो!'', ''नहीं, मुझे!'' दूसरी आवाज़ें चिल्लाईं। ''कैसे खून की नदियां बही थीं!'' लगभग सभी सुनाने-बताने को उतावले थे और सभी बेहद खुश थे। लेकिन अगर जातीय भावना को ही तुष्ट किया जाए, तो सारे इतिहास में से क्या बचेगा? जातीय भावना को प्रधानता देकर नहीं पढ़ाया जा सकता। मुझे लगता है कि बच्चों में हमेशा पाई जाने वाली कलात्मक रुचि के विकास तथा तुष्टि के लिए ऐतिहासिक परंपरा को इस्तेमाल किया जा सकता

है, पर यह इतिहास नहीं होगा। इतिहास के अध्यापक के लिए पहले बच्चों में इतिहास के प्रति रुचि पैदा करना आवश्यक है। मगर यह कैसे किया जाए?

* * *

प्रायः मुझे सुनने को मिलता है कि इतिहास की पढ़ाई शुरू से नहीं, बल्कि आखिर से, यानी प्राचीन इतिहास से नहीं, बल्कि समकालीन इतिहास से आरंभ की जानी चाहिए। यह विचार बिल्कुल युक्तिसंगत है। बच्चे को रूसी राज्य के आरंभ के बारे में कैसे बताया जाए और इसमें उसकी दिलचस्पी कैसे पैदा की जाए, अगर वह जानता ही नहीं कि रूसी राज्य क्या है या राज्य क्या बला होती है।

जिसका बच्चों से वास्ता पड़ा है, उसे मालूम होना चाहिए कि हर रूसी बच्चे का दृढ़ विश्वास है कि जैसी सारी दुनिया वैसा ही रूस है, जैसे रूस में वह रहता है। ठीक ऐसा ही फ्रांसीसी और जर्मन बच्चा भी सोचता है। बच्चों को, और बच्चों जैसे भोले बड़ों को भी हमेशा यह देखकर आश्चर्य क्यों होता है कि जर्मन बच्चे जर्मन बोलते हैं?. . . ऐतिहासिक रुचि अधिकांशतः कलात्मक रुचि के बाद पैदा होती है।

हमारे लिए रोम की स्थापना का इतिहास जानना दिलचस्प इसलिए होता है कि हम जानते हैं कि अपने उत्कर्ष काल में रोमन साम्राज्य कैसा था। जिसे हमने महान के रूप में जाना है, उसके बाल्यकाल को जानना रोचक ही होता है। . . . हम जब रोम के विकास में रुचि लेते हैं, तो अंत में उसका जो हश्र हुआ था, मन-ही-मन हम उसकी कल्पना भी करते हैं। हम मॉस्को राज्य की स्थापना के बारे में जानना चाहते हैं, क्योंकि हमें मालूम है कि रूसी साम्राज्य क्या है। मैं अपने अवलोकनों और प्रयोगों से जानता हूं कि इतिहास में रुचि का पहला अंकुर समकालीन इतिहास को जानने और कभी-कभी उसमें भाग लेने के फलस्वरूप, राजनीतिक रुचि, राजनीतिक विचारों, बहसों और अखबारों को पढ़ने के फलस्वरूप पैदा होता है। और इसलिए इतिहास को वर्तमान से आरंभ करने का विचार स्वाभाविकतः हर सोचने वाले पाठक को तर्कसंगत लगना चाहिए।

पहला पाठ

मैं पहले पाठ में बताना चाहता था कि रूस अन्य देशों से किन बातों से भिन्न है, उसकी सीमाएं क्या हैं, उसकी शासन पद्धति कैसी है, वगैरह।

अध्यापक – हम कहां, किस धरती पर रहते हैं?

एक विद्यार्थी – *यास्नाया पोल्याना* में।

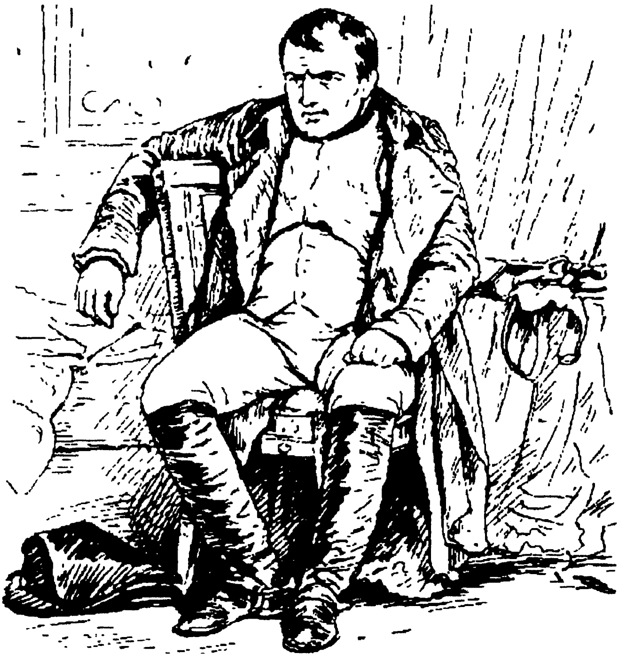

नेपोलियन बोनापार्ट

दूसरा विद्यार्थी – खेत में।

अध्यापक – नहीं, *यास्नाया पोल्याना* और *तूला गुबेर्निया* किस धरती पर है?

एक विद्यार्थी – *तूला गुबेर्निया* हमारे यहां से 17 वर्स्ट* की दूरी पर है. . .

अध्यापक – नहीं, वह तो *गुबेर्नियाई* शहर है, जबकि *गुबेर्निया* दूसरी ही चीज़ को कहते हैं। हां, तो कौन-
धरती?

एक विद्यार्थी (जिसने पहले भूगोल
पाठ पढ़ा था) – धरती गोल है, गे
जैसी है।

इस तरह के सवालों के ज़रिए
उनका परिचित आदमी पहले कि
धरती पर, किस देश में रहता थ
और अगर सीधे एक ही दिशा में चल

* दूरी नापने की रूसी इकाई।

जाएं, तो कहां पहुंचेंगे, विद्यार्थियों को यह उत्तर देने को प्रेरित किया गया कि वे रूस में रहते हैं। कुछ ने फिर भी इस सवाल के जवाब में कि अगर सीधे एक ही दिशा में चलते जाएं, तो कहां पहुंचेंगे, कहा कि कहीं नहीं पहुंचेंगे। कुछ औरों का कहना था कि दुनिया के छोर पर पहुंचेंगे. . . ।

अध्यापक रूस और अन्य राज्यों के बीच मौजूद भौगोलिक अंतरों को समझाने की कोशिश करता है। वह बताता है कि सारी पृथ्वी विभिन्न राज्यों में बंटी हुई है। रूसियों, फ्रांसीसियों, जर्मनों ने सारी पृथ्वी को बांट लिया है और कहा है: यहां तक मेरा है और यहां तक तेरा है। इसलिए दूसरे देशों की तरह रूस की भी अपनी सीमाएं हैं।

अध्यापक – तो, समझे कि सीमा किसे कहते हैं? कोई सीमा की मिसाल दे सकता है?

एक विद्यार्थी (एक अक्लमंद लड़का) – वहां तुर्किन टीले के पीछे सीमा है। (उसका मतलब उस पत्थर के खंभे से है, जहां से *तूला उयेज़्द* शुरू होता है।)

सभी विद्यार्थी इस परिभाषा से सहमत हैं।

अध्यापक महसूस करता है कि परिचित जगह की मिसाल देकर सीमाएं दिखाना ज़रूरी है। वह दो कमरों का नक्शा बनाता है और उन्हें विभाजित करने वाली सीमा दिखाता है। फिर वह गांव का नक्शा खींचता है और विद्यार्थी खुद ही कई सीमाओं को पहचान जाते हैं। अध्यापक समझाता है, बल्कि कहें, तो उसे लगता है कि वह समझा रहा है कि जैसे 'यास्नाया पोल्याना' की सीमाएं हैं, वैसे ही रूस की भी सीमाएं हैं। वह सोचता है कि सभी उसे समझ गए हैं। मगर जब वह पूछता है कि कैसे मालूम करें कि हमारे यहां से रूस की सीमा कितनी दूर है, तो विद्यार्थी छूटते ही जवाब देते हैं कि यह बड़ी आसानी से मालूम किया जा सकता है। ज़रूरत सिर्फ इसकी है कि गज लेकर नाप लिया जाए।

अध्यापक – मगर किस दिशा में?

एक विद्यार्थी – यहां से सीधे सीमा की दिशा में, और माप जितना निकले, उसे लिख लिया जाए।

पुन: खाके, नक्शे, मानचित्र बनाए जाने लगते हैं। मगर पैमाने की संकल्पना भी आवश्यक है, जो अभी तक नहीं थी। अध्यापक सड़क के किनारे-किनारे बसे गांव का नक्शा बनाने का सुझाव रखता है। उसे श्यामपट्ट पर बनाया जाने लगता है। पर सारा गांव नहीं आ पाता, क्योंकि पैमाना बड़ा चुना गया है। नक्शा मिटाया जाता है और छोटे पैमाने पर स्लेट पर बनाना शुरू करते हैं। पैमाना, नक्शा और सीमाएं थोड़ा-थोड़ा करके

स्पष्ट होने लगती हैं। अध्यापक पहले बताए हुए को फिर से दोहराता है और पूछता है कि रूस क्या है और उसका छोर कहां है...

पाठ दो घंटे जारी रहता है। अध्यापक को विश्वास है कि जो कुछ उसने बताया है, उसमें से बहुत सारा बच्चों को याद रह गया है, और इसलिए उसी ढंग से वह अगले पाठों में भी पढ़ाता है। लेकिन सिर्फ आगे चलकर ही उसे मालूम हो पाता है कि उसकी ये सभी युक्तियां गलत थीं और जो कुछ भी उसने किया था, वह सब बिल्कुल बेकार था।

मैं इन पाठों में विद्यार्थियों को किन्हीं भी नई संकल्पनाओं से परिचित नहीं कराता था, क्योंकि सोचता था कि यह मैं कर चुका हूं। और केवल अपने नैतिक प्रभाव के ज़रिए ही बच्चों को वैसा उत्तर देने को विवश करता था, जैसा उत्तर मैं सुनना चाहता था . . . कोई छह महीने पहले मैंने ये प्रयोग किए थे और आरंभ में मैं उनसे अत्यंत संतुष्ट था और उन पर मुझे गर्व भी था।

जिन लोगों को मैं उनसे अवगत कराता, वे कहते कि यह सब बहुत अच्छा और दिलचस्प है। मगर तीन सप्ताह बाद, जिनके दौरान मैं अध्यापन में हिस्सा नहीं ले सका था, मैंने शुरू किए गए प्रयोग को जारी रखने की काशिश की। मैंने पाया कि पहले का सब कुछ बेकार और अपने आपको धोखा देना था। एक भी विद्यार्थी मुझे नहीं बता सका कि सीमा क्या होती है, रूस और रूसी क्या हैं, कानून किसे कहते हैं और *क्रापीब्ना उयेज्द* की सीमाएं क्या हैं। जो कुछ उन्होंने सीखा था, उसे वे भूल गए थे, लेकिन दूसरी ओर यह सब वे अपने ढंग से जानते थे।

मुझे यकीन हो गया कि मुझसे गलती हुई है। सिर्फ जिसके बारे में मैं पक्के तौर पर कुछ नहीं कह सकता, वह यह है कि कमज़ोरी अध्यापन में थी या उस तरीके में ही।

हो सकता है कि बच्चे के सामान्य विकास के एक निश्चित स्तर पर पहुंचने तक, अखबारों की मदद और यात्राओं के बिना उसमें ऐतिहासिक और भौगोलिक रुचि जागृत नहीं की जा सकती।

हो सकता है कि वह तरीका पा लिया जाएगा (मैं उसे लगातार खोज रहा हूं), जिसकी मदद से ऐसा करना संभव हो जाएगा। मैं सिर्फ इतना जानता हूं कि इस तरीके में किताबों से पढ़ाने के लिए कोई स्थान नहीं होगा, क्योंकि वह इन रुचियों को जागृत करने के बजाए खत्म ही करता है।

* * *

मैंने समकालीन इतिहास पढ़ाने के अन्य प्रयोग भी किए और कुछ प्रयोग अत्यंत सफल रहे। मैंने बच्चों को क्रीमियाई अभियान* के बारे में, ज़ार निकोलाई प्रथम के शासन के बारे में और 1812 के इतिहास** के बारे में बताया। बताने का ढंग ऐसा था कि जैसे परीकथाएं सुना रहा होऊं और घटनाएं भी अधिकांशत: ऐतिहासिक दृष्टि से कपोल-कल्पित और किसी एक व्यक्ति के गिर्द केन्द्रित थीं। जैसी कि उम्मीद की जाती थी, नेपोलियन के साथ लड़ाई की कहानी को सबसे अधिक पसंद किया गया।

यह पाठ हमारे जीवन की एक सदा याद रहने वाली घटना थी। मैं उसे कभी नहीं भूल पाऊंगा। बच्चों से बहुत पहले से वायदा किया हुआ था कि मैं उन्हें अंत से बताऊंगा और दूसरा अध्यापक आरंभ से, और इस तरह बीच में हम मिल जाएंगे। मेरी कक्षा शाम को होती थी और मैंने पाया कि विद्यार्थी बिखर गए हैं, जब मैं रूसी इतिहास की कक्षा में पहुंचा, तो *स्व्यातोस्लाव* के बारे में बताया जा रहा था। विद्यार्थियों को कोई मज़ा नहीं आ रहा था। हमेशा की तरह एक ऊंची बेंच पर तीन किसान लड़कियां पास-पास बैठी हुई थीं। एक सो गई थी। मीश्का ने मुझे टोका, "देखो, हमारी कोयलें बैठी हुई हैं। एक तो सो भी गई है।" और सचमुच, वे बिल्कुल कोयलों जैसी थीं। "बेहतर है, अंत से बताओ!" किसी ने कहा और सब चौकन्ने हो गए।

मैं बैठ गया और बताने लगा। हमेशा की तरह दो-एक मिनट तक ऊधम, एक दूसरे को धकियाना, वगैरह जारी रहा और फिर एकदम खामोशी छा गई। मैंने अलेक्सांद्र प्रथम से शुरू किया, फ्रांसीसी क्रांति के बारे में, नेपोलियन की सफलताओं के बारे में, उसके सत्ता पर अधिकार के बारे में, तिलसिट की संधि के साथ खत्म हुए युद्ध के बारे में बताया। ज्यों ही बात हम तक आई, सभी ओर से सक्रिय सहभागिता की सूचक आवाज़ें और शब्द सुनाई देने लग गए. . . बाद में मैंने जारी रखते हुए बताया. कि हमने फ्रांसीसियों को कैसे खदेड़ा, कैसे हमने नेपोलियन को पेरिस तक पहुंचाया, वास्तविक राजा को गद्दी पर बिठाया और विजय की खुशियां और जश्न मनाए। सिर्फ क्रीमियाई युद्ध की यादों ने सारा मज़ा किरकिरा कर डाला। "ठहरना," हवा में मुक्का तानते हुए

---

* यहां आशय 1853-1856 के क्रीमियाई युद्ध से है, जिसमें रूसियों की हार हुई थी।

** यहां आशय 1812 के देशभक्तिपूर्ण युद्ध से है, जो नेपोलियन के नेतृत्व में फ्रांस द्वारा रूस पर आक्रमण के साथ शुरू और रूस की विजय के साथ खत्म हुआ था।

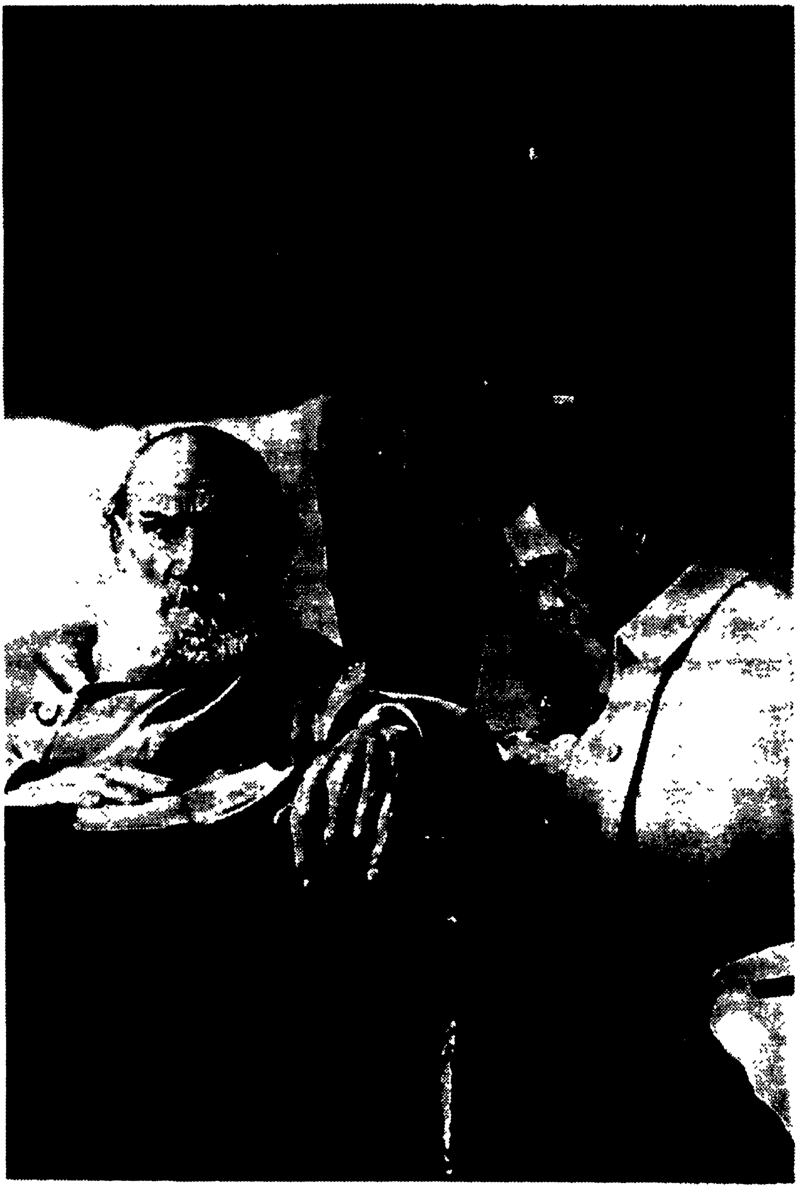

लेव तोलस्तोय – अपने जीवन के आखिरी दिनों में।

पेत्का कह ही बैठा। "मैं बड़ा हो लूं। तब ऐसा मज़ा चखाऊंगा कि..."

जब मैंने खत्म किया, काफी देर हो चुकी थी। आमतौर पर इस समय तक बच्चे सो जाते हैं। पर उस रोज़ कोई नहीं सोया। उल्टे, आंखें दहक ही रही थीं। मैं खड़ा हुआ ही था कि मुझे घोर अश्चर्य में डालते हुए तरास्का मेरी आरामकुर्सी के नीचे से निकला और उसने उत्तेजित तथा साथ ही गंभीर दृष्टि से मुझे देखा। "तुम वहां कैसे घुसे?" "वह शुरू से ही वहां था," किसी ने कहा। पूछना क्या था – मेरा बताया हुआ उसकी समझ में आया या नहीं, यह उसके चेहरे पर ही लिखा हुआ था। "तो तुम क्या बताओगे?" मैंने पूछा । "मैं?"

उसने कुछ सोचा और फिर आगे कहा, "सब कुछ।" "मैं घर पर बताऊंगा। " "मैं भी।" "और मैं भी।"

मैंने बच्चों को जो बताया था, वह इतिहास नहीं था, बल्कि जन भावना को जगाने वाली परीकथा* थी।

इसका मतलब था कि इतिहास के अध्यापन के तौर पर यह प्रयास पहले प्रयासों से भी ज़्यादा असफल रहा था।

---

* यहां आशय इतिहास को कलात्मक शैली मे प्रस्तुत करने से है।

लेव तोलस्तोय: प्रसिद्ध रूसी साहित्यकार और शिक्षाशास्त्री। जन्म 1828; मृत्यु: 1910

शिक्षाशास्त्रीय रचनाएं प्रगति प्रकाशन, मास्को द्वारा 1987 में प्रकाशित।

कब खत्म हो रही है आपकी सदस्यता

संदर्भ के लिफाफे पर लगी पते की स्लिप पर गौर करें। इसमें आपके पते के अलावा एक और जानकारी होती है। जो इस तरह लिखी होती है -

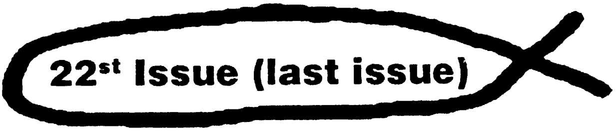

इसका मतलब है कि आपकी सदस्यता 22वें अंक में समाप्त होने वाली है। इसलिए 22 वां अंक पाते ही आप नया सदस्यता शुल्क भेज दें। ताकि आगे के अंक आपको लगातार मिलते रहें।

पिछले अंक में इस स्तंभ में सवाल पूछा गया था कि एक खाली बोतल में फूंक मारकर सीटी बजाइए और ध्वनि की पिच (आवाज़ का मोटापन या महीनपन) पर गौर कीजिए। अब इस बोतल में थोड़ा-सा पानी भरिए और फिर बजाकर देखिए की सीटी की आवाज़ में फर्क महसूस हो रहा है या नहीं। इसी तरह बोतल में थोड़ा-थोड़ा पानी और डालकर देखिए की सीटी की आवाज़ में क्या फर्क आ रहा है। आपको यह बताना था कि बोतल में पानी की ऊंचाई बढ़ने के साथ सीटी की पिच भी बढ़ती जाती है – ऐसा क्यों होता है?

तीखी होती सीटी

जवाब: जब हम फूंक मारते हैं तो हवा की एक धारा तेज़ गति से बोतल के अंदर घुसती है; इसके कारण बोतल में मौजूद हवा में कंपन होने लगता है। और जैसा कि आप जानते होंगे ध्वनि हमें कंपन की वजह से ही महसूस होती है।

पर आपने यह भी गौर किया होगा कि ज़रूरी नहीं है कि आपके हर बार फूंक मारने से सीटी बज ही जाए। आपको एक खास अंदाज़ में फूंक मारना पड़ता है सीटी बजाने के लिए। लेकिन ऐसा क्यों?

दरअसल हर वस्तु चाहे वो बोतल की हवा हो या तानपूरे का तार, कंपन कराने पर इनमें से कुछ खास ध्वनियां ही अच्छी तरह से निकल पाती हैं। ढोल बजाने पर अलग आवाज़ आती है और कनस्तर पीटने पर अलग। यह खास ध्वनियां वह हैं जिनपे वाद्य की कंपन करने वाली चीज़ में अनुनाद होता है। इन खास ध्वनियों की आवृतियों (या दूसरे लफ्जों में पिचों) को अनुनाद आवृति कहा जाता है।

बोतल से सीटी की आवाज़ भी तभी निकलती है जब आपकी फूंक द्वारा बोतल की हवा में प्रेरित कंपन उसकी किसी अनुनाद आवृति पर हो।

दरअसल, अनुनाद के समय कंपन करने वाली हवा में बोतल के पेंदे की तरफ जाते और पेंदे से लौटते कंपन के टकराव (Superimposition) के कारण बोतल की हवा में स्थिर तरंगे (Standing Waves) पैदा हो जाती है।

(देखे चित्र) स्थिर तरंगों का फायदा यह होता है कि बोतल की हवा एक अच्छे और कुछ समय तक टिकने वाले आयाम का कंपन करने लगती है। जोरदार कंपन के कारण ही आपको सीटी की आवाज़ सुनाई देती है।

अब हम आते हैं मूल प्रश्न पर। सीटी की पिच कैसी होगी निर्भर करता है स्थिर तरंगों की तरंगदैर्ध्य पर। यह इसलिए कि

आवृति (υ) = गति(V) / तरंगदैर्ध्य (λ)

और स्थिर तरंगों की तरंगदैर्ध्य तय होती है बोतल की लंबाई पर से। एक बोतल में जिसका एक सिरा खुला है, सबसे सरलतम – जिन्हें प्रथम संनादी भी कहते हैं – तरंगें तभी पैदा होती है जब इस तरंग की तरंगदैर्ध्य बोतल में मौजूद हवा की लंबाई की चार गुनी होगी ($\lambda = 4L$)।

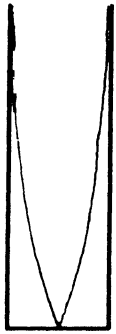

चित्र-1 : बोतल में बनने वाली प्रथम संनादी तरंग। चित्र से स्पष्ट होता है कि इनकी तरंग लंबाई बोतल की लंबाई से चौगुनी होती है।

इसका अर्थ यह हुआ कि जैसे-जैसे बोतल में पानी डाल कर आप बोतल की हवा की लंबाई कम करते हैं, उसमें पैदा हो सकने वाले प्रथम संनादी वाली स्थिर तरंगों की तरंगदैर्ध्य भी कम होती जाती है। और चूंकि तरंगदैर्ध्य पिच के विपरीत अनुपाती होती है। पैदा होने वाली सीटी की पिच बढ़ी हुई होती है (देखे चित्र) बढ़ी हुई पिच यानी ज़्यादा तीखी आवाज। क्यों, अनुभव भी यही बताता है न? एक मोटे तौर पर कुल मामला बस यही है।

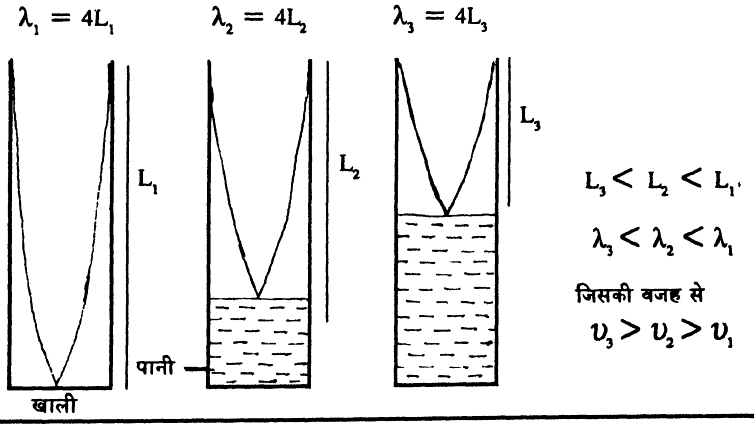

इस बार का ज़रा सिर तो खुजलाइए पृष्ठ नं. 62 पर।

खेती करती चींटियां

चली जा रही हैं कतार में चींटियां. . . है न। किसी मरे हुए कीड़े को खींचने में जुटी हुई हैं सैंकड़ों चींटियां। चींटियों के बारे में ये सब अवलोकन तो काफी आम हैं। लेकिन इनके अलावा भी ऐसा बहुत कुछ है इन चींटियों में जो बार-बार इनकी जीवनचर्या, इनके रहन-सहन के बारे में जानने को बेताब किए रहता है।

चींटियों की कुछ प्रजातियां ऐसी हैं जो दूसरी किसी विशेष प्रजाति की चींटियों की कॉलोनियों पर आक्रमण कर वहां कब्जा जमा लेती हैं और वहां की स्थानीय चींटियों को दास की तरह इस्तेमाल करती हैं।

एक खास प्रजाति की चींटीं बड़े जतन से पत्तियों, गोबर और दूसरे कार्बनिक पदार्थों को इकट्ठा करती हैं। इन्हें चबाकर ठीक अनुपात में मिलाती हैं और कॉलोनियों की दीवार पर चिपका देती हैं। फिर वे इनमें एक खास किस्म की फफूंद को उगाती हैं। मज़ेदार बात यह है कि यह फफूंद भी सिर्फ इन्हीं चींटियों की कॉलोनियों में ही मिलता है, और कहीं नहीं।

अब इसे ही देखिए 'रेडवुड' चींटी को – जिसका कि चित्र बाजू वाले पृष्ठ पर दिया गया है। एक छोटा-सा कीट *एफिड* एक मीठा-सा पदार्थ स्रावित करता है। यह पदार्थ इस चींटी का भोजन है। एक तरह से कहें तो रेडवुड चींटी इस पदार्थ को दुहती है।

दरअसल होता यह है कि ये चींटियां एफिड के झुंड की देखभाल करती हैं। अन्य कीटों से उनकी सुरक्षा करती है, ज़रूरत पड़ने पर उन्हें हंका कर यहां वहां भी ले जाती हैं। समय के नियमित अंतराल से यह रेडवुड चींटी अपने स्पर्शकों (Antenna) से एफिड को उत्तेजित करती रहती है ताकि एफिड वह मीठा-सा पदार्थ स्रावित करे और चींटी उसे चट कर जाए।

एफिड के झुंड के ऊपर दो रेडवुड चींटिय

12747